

## समर्पण

पित, आज उसको हुए अष्टाविंशति वर्ष ,  
दीपावली-प्रकाश में जब तुम गये सहर्ष ।  
भूल गये वह दुःख-मुख, निरानन्द-आनन्द ;  
शैशव में तुमसे सुने याद रहे ये छन्द—

“हम चाकर रघुवीर के, पटौं लिखी दरवार,  
अब तुलसी का होहिंगे नर के मनसबदार ?  
तुलसी अपने राम को रोम भजो वैं खीज ,  
उलटो लूखो ऊंगि है तैत परे की बीज ।  
वनों सो रघुनर सो वनों, वैं बिगरे भरपूर ,  
तुलसी वनों जो और सो, ता बनिसे में रूर ।  
चानक सुतहिं मित्रावही, आन धर्म जिन लेहू ,  
मेरे कुल की बानि है स्वांति वंद सो नेहू ,”

स्वयं तुम्हारा वह कथन भूला नहीं ललाम—

“वहाँ कल्पना भी सपन, जहाँ हमारे राम ।”

तुमने दम जन के लिए क्या क्या किया न हाय !

बना तुम्हारी तृप्ति का मुझमें कौन उपाय ?

तुम दयालु थे दे गये कविता का वरदान ,

उमकेफल का पिण्ड यह लो निज प्रभु गुणगान ।

आज आठ के दिन तुम्ह, श्रद्धा-भक्ति-समेत ;

अर्पण करता हूँ यही निज कवि-धन ‘भाकेत’ ।

अनुवर—

दीपावली १९८८

मैथिलीशरत्न

“परिभ्राणाय साधूना, | विनाशाय च दुष्कृताम् ,  
धर्मं संस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ।”

• • •

“इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्  
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।”

• • •

“त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ,  
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूत सुखावहे ।”

• • •

“निर्दोषमभवन्मवंमाविष्कृतगुणं जगत् ,  
अन्वगादिय, हि स्वर्गो ना शतं पुरोत्तमम् ।

“कल्पभेद हरि चरित सुहाये ,  
भाँति अनेक मुनीसन गाये ।”

❀ ❀ ❀

“हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता ;  
” कहहि, सुनिहि, समुझहि स्तुति-सन्ता ।”

❀ ❀ ❀

“रामचरित जे सुनत अघाही ,  
रस विशेष जाना तिन्ह नाही ।”

❀ ❀ ❀

“भरि लोचन विलोक अवधेसा ,  
तव सुनिहों निरगुन उपदेशा ।”

## निवेदन

इच्छा थी कि सबके अन्त में, अपने सहृदय पाठकों और साहित्यक बन्धुओं के सम्मुख "सावेत" समुपस्थित करके अपनी घृष्टता और चपलताओं के लिए क्षमायाचना पूर्वक विदा लूंगा। परन्तु जो जो लिखना चाहता था, वह आज भी नहीं लिखा जा सका और शरीर शिथिल हो पड़ा। अतएव, आज ही उस अभिलाषा को पूर्ण कर लेना उचित समझता हूँ।

परन्तु फिर भी मेरे मन की न हुई। मेरे अनुज श्रीसियारामशरण मुझे अवकाश नहीं लेने देना चाहते। वे छोटे हैं, इसलिए मुझपर उनका बड़ा अधिकार है। तथापि, यदि अब मैं कुछ लिख सका तो वह उन्हींकी बेगार होगी।

उनकी अनुरोध-रक्षा में मुझे सन्तोष ही होगा। परन्तु यदि मुझे पहले ही इस स्थिति की सम्भावना होती तो इसे और भी पहले पूरा करने का प्रयत्न करता और मेरे कृपालु पाठकों को इतनी प्रतीक्षा न करनी पड़ती। निस्सन्देह पन्द्रह-सोन्ह वर्ष बहुत होते हैं तथापि इस बीच में अनेक फेर-फार हुए हैं और ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

आचार्य पूज्य द्विवेदीजी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मानो उनकी कृपा का मूल्य निर्धारित करने की दिठाई करना है।

वे मुझे न अपनाते तो मैं आज इस प्रकार, आप लोगो के समक्ष खड़े होने में भी समर्थ होता या नहीं कौन कह सकता है।

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद ?—

1 महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।

विजयवर बाह्यस्पत्यजी महोदय ने आरम्भ से ही अपनी मार्मिक सम्मत्तियों से इस विषय में मुझे कृतार्थ किया है। अपनी शक्ति के अनुसार उनसे जितना लाभ मैं उठा सका, उसीको अपना सौभाग्य मानता हूँ।

भाई कृष्णदास, अजमेरी और सियारामधरण की प्रेरणाएँ और उनकी सहायताएँ मुझे प्राप्त हुईं तो ऐसा होना उचित ही था। स्वयं वे ही मुझे प्राप्त हुए हैं।

“सावेत” के प्रकाशित अशो को देख-भुनकर जिन मित्रों ने मुझे उत्साहित किया है, मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। खेद है, उनमें से गणेशशिवर जैसा बन्धु अब नहीं।

समर्थ सहायको को पाकर भी अपने दोषों के लिए मैं उनको ओट नहीं ले सकता। किसीकी सहायता से लाभ उठा ले जाने में भी तो एक क्षमता चाहिए। अपने मन के अनुकूल होते हुए भी कोई कोई बात कहकर भी मैं नहीं कह सका। जैसे नवम सर्ग में ऊर्मिला का चित्रकूट-मन्वन्धी यह सस्मरण—

मँकली माँ से मिल गई क्षमा तुम्हें क्या नाथ ?

‘पीठ ठोककर ही प्रिये, मानें माँ के हाथ।’

परन्तु इसीके साथ ऐसा भी प्रसंग आया है कि मुझे स्वयं

अपने मन के प्रतिबल ऊर्मिला का कथन लिखना पड़ा है—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी ।

मन ने चाहा कि इसे यो कर दिया जाय—

मेरे मानस के हंस, आज वनचारी ।

परन्तु इसे मेरे ब्रह्म ने स्वीकार नहीं किया । क्यों, मैं स्वयं नहीं जानता ।

ऊर्मिला के विरह-वर्णन की विचार-धारा में भी मैंने स्वच्छन्दता से काम लिया है ।

यो तो “सावेत” दो वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था, परन्तु नवम सर्ग में तब भी कुछ शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार आज भी यह अधूरा है । यह भी अच्छा ही है । मैं चाहता था कि मेरे साहित्यिक जीवन के साथ ही “सावेत” की समाप्ति हो । परन्तु जब ऐसा नहीं हो सका, तब ऊर्मिला की निम्नोक्त आशा निराशा मयी उक्तियों के साथ उनका क्रम बनाये रखना ही मुझे उचित जान पड़ता है—

कमल, तुम्हारा दिन है और बुमुद, यामिनी तुम्हारी है,  
कोई हताश क्यों हो, आती सबकी समान वारी है ।  
धन्य कमल, दिन जिसके, धन्य बुमुद, रात साथ में जिसके,  
दिन और रात दोनों, होते हैं हाथ । हाथ में किसके ?

जय देवमन्दिर - देहली

सम-भाव से जिसपर चढ़ी,—

नृप-हेममुद्रा और रक्त-वराटिका ।

मुनि-मत्स्य-सौरभ की कली—

कवि - वरपना जिसमें बढी ,

फूले फूले साहित्य की वह वाटिका ।

## सूची

✓ प्रथम सर्ग	५	१७
✓ द्वितीय सर्ग		४३
✓ तृतीय सर्ग		६६
✓ चतुर्थ सर्ग		६२,
पंचम सर्ग		१२४
षष्ठ सर्ग	५	१५६
सप्तम सर्ग		१८०
अष्टम सर्ग		२२०
✓ नवम सर्ग	५	२६७
दशम सर्ग	५	३४०
एकादश सर्ग		३८८
✓ द्वादश सर्ग		४५०



राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?  
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कही हो क्या ?  
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ;  
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ।

साकेत

## मंगलाचरण

जयति कुमार-अभियोग-गिरागोरी-प्रति ,  
स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं—  
“देखो श्रम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर  
तुन्दिल शरीर एक ऊषम मचाते हैं ।  
गोद भरे मोदक घरे हैं, सविनोद उन्हें  
सूँढ़ से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं ,  
देते नहीं, कन्दुक-सा ऊपर उछालते हैं ,  
ऊपर ही भेलकर, खेलकर खाते हैं !”

श्रीगणेशाय नमः

# साकेत

प्रथम सर्ग

अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे ,  
इधर भी निज वरद-पाणि पसारदे ।  
दास की यह देह-तन्त्री सार दे ,  
रोम - तारो मे नई भकार दे ।  
बैठ, आ, मानस-मराल सनाथ हो ,  
भार-वाही कण्ठ-केकी साथ हो ।  
चल अयोध्या के लिए, सज साज तू ,  
माँ, मुझे कृतकृत्य कर दे आज तू ।

स्वर्ग से भी आज भूलत वढ गया ,  
भाग्य भास्कर उदयगिरि पर चढ गया ।

{ हो गया निर्गुण सगुण-साकार है ,  
ले लिया अखिलेश ने अवतार है ।

किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया ?  
मनुज बनकर मानवी का पय पिया ?

{ भक्त-वत्सलता इसीका नाम है ,  
और वह लोकेश लाला-धाम है ।

पथ दिखाने के लिए सत्तार को ,  
दूर करने के लिए भू-भार को ,  
सफल करने के लिए जन-दृष्टियाँ ,  
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टिया ?

{ असुर-शासन शिशिर-मय हेमन्त है ,  
पर निकट ही राम-राज्य-वसन्त है ।

पापियों का जान लो अब अन्त है ,  
भूमि पर पकटा अनादि अनन्त है ।

{ राम सीता, धन्य धीराम्बर-इला ,  
शौर्य-सह सम्पत्ति, लक्ष्मण-ऊर्मिला ।

भरत वर्त्ता, माण्डवी उनकी क्रिया ,  
कीर्ति-सी श्रुतिकीर्ति शत्रुघ्नप्रिया ।

ब्रह्म की है चार जैसी पूतियाँ ,  
 ठीक वैसी चार माया-भूतियाँ ।  
 धन्य दशरथ-जनक-पुण्योत्कर्ष है ,  
 धन्य भगवद्भूमि - भारतवर्ष है ।

( देख लो, साकेत नगरी है यही ,  
 / स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही ।  
 केतु-पट अचल-सदृश है उड़ रहे ,  
 कनक-कलशों पर अमर-दृग जुड़ रहे ।  
 सोहती हैं विविध - शालाएँ बड़ी ,  
 छत उठाये भित्तियाँ चित्रित खड़ी ।  
 गेहियों के चारु-चरितों की लड़ी ,  
 छोड़ती है छाप, जो उनपर पड़ी ।  
 स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत घर बने ,  
 इन्द्रधनुषाकार तोरण हैं तने ।  
 देव-दम्पति अट्ट देख सराहते ,  
 उतरकर विश्राम करना चाहते ।  
 फूल-फलकर, फैलकर जो है बड़ी ,  
 दीर्घ छज्जो पर विविध बेलें चड़ी ।

पीरक्याएँ प्रसून - स्तूप वर ,  
 वृष्टि करती हैं यही से भूप पर ।  
 फूल - पत्ते हैं गवाक्षो मे कुद्रे ,  
 प्रकृति से ही वे गये मानो गढे ।  
 दामनी भीतर दमकती है कभी ,  
 चन्द्र की माला चमकती है कभी ।  
 सर्वदा स्वच्छन्द छज्जो के तले ,  
 प्रेम के आदर्श पारावत पले ।  
 केश रचना के सहायक हैं शिखी ,  
 चित्र मे मानो अभोध्या है लिखी ।

दृष्टि मे वैभव भरा रहता सदा ,  
 घ्राण मे आमोद है बहता सदा ।  
 ढालते है शब्द श्रुतियो मे सुधा ,  
 स्वाद गिन पाती नही रसना-शुधा ।

कामरूपी वारिदो के चित्र से ,  
 इन्द्र की अमरावती के मित्र से ,  
 कर रहे नृप शौच गगन स्पर्श है ,  
 शिल्प - कौशल के परम आदर्श है ।

कोट-कलशो पर प्रणीत विहग हैं ,  
 ठीक जैसे रूप, वैसे रग हैं ।  
 वायु की गति गान देती है उन्हे ,  
 बाँसुरी की तान देती है उन्ह ।  
 ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूष हैं ,  
 जो सुसवत् के निदशन-रूप हैं ।  
 राघवो की इन्द्र-मैत्री के बडे ,  
 वेदियो के साथ साक्षी से खडे ,  
 मूर्तिमय, विवरण समेत, जुदे जुदे ,  
 ऐतिहासिक वृत्त जिनमे हैं खुदे ,  
 यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तम्भ है ,  
 दूर करते दानवो का दम्भ हैं ।

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ ,  
 किन्तु सुरसरिता वहाँ, सरयू वहाँ ?  
 वह मरो की मान पार उतारती ,  
 यह यही से जीवितो को तारती ।  
 अग्रदाग पुरागनाओ के धुले ,  
 रग देकर तीर मे जो हैं धुले ,



दीप्तते उनसे विचित्र तरंग हैं ,  
 कोटि शक्र - शरम होते भग हैं ।  
 है वनी साकेत नगरी नागरी ,  
 और सात्त्विक-भाव से सम्यु भरी ।  
 पुण्य की प्रत्यक्ष धारा वह रही ,  
 वर्ण-वोमल बल-यथा-सी वह रही ।  
 तीर पर हैं देव - मन्दिर मोहते ,  
 भावुको के भाव मन को मोहते ।  
 आस-पाम लगी वहाँ फुलवारियाँ ,  
 हँस रही हैं खिलखिलाकर बवारियाँ ।

है अयोध्या अरुणि की अमरावती ,  
 इन्द्र हैं दशरथ विदित वीरव्रती ,  
 वैजयन्त विशाल उनके धाम हैं ,  
 और नन्दन वन बने आराम हैं ।

एक तरु के विविध गुमनो-से खिले ,  
 पौरजन रहते परम्पर हैं मिले ।  
 स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी ,  
 धाह्यभोगी, आन्तरिक योगी सभी ।

व्याधि की बाधा नहीं तन के लिए ,  
 आधि की शका नहीं मन के लिए ।  
 चोर की चिन्ता नहीं धन के लिए ,  
 सर्व सुख है प्राप्त जीवन के लिए ।  
 एक भी आंगन नहीं, ऐसा यहाँ ,  
 मिथु न करते हो कलित क्रीडा जहाँ ।  
 कौन है ऐसा अभागा गृह वही  
माथ जिसके अश्व-गोशाला न हो ?  
धान्य-धन परिपूर्ण सबके धाम है ,  
 रगशाला - मे मजे अभिराम है ।  
 नागरो की पानता, नव नव कला ,  
 क्यों न दे? आनन्द लोकोत्तर भला ?  
 ठाट है सज्जन घर या घाट है ,  
 लोक-लक्ष्मी की विलक्षण हाट है ।  
 सिक्त, सिजित-पूर्ण मार्ग अकाट्य हैं ,  
 घर सुघर नेपथ्य, बाहर नाट्य हैं !

अलग रहती है सदा ही ईतियाँ ,  
 भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ ।

नीतियों के साथ रहती रीतियाँ ,  
 पूर्ण है राजा-प्रजा की प्रीतियाँ ।  
 पुत्र हूँ चार फल पाये यही ,  
 भूष को अब और कुछ पाना नहीं ।  
 वस यही सकल्प पूरा एक हो ,  
 शीघ्र ही श्रीराम का अभिषेक हो ।

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ ;  
 किन्तु समझो, रात का जाना हुआ ।  
 क्योंकि उसके अग पीले पड चले ;  
 रम्य - रत्नाभरण ढीले पड चले ॥  
 एक राज्य न हो, बहुत से हो जहाँ ,  
 राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ ।  
 बहुत तारे थे, अँधेरा कब मिटा ,  
 सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा ।  
 नींद के भी पैर है कंपने लगे ,  
 देख लो, लोचन-कुमुद झँपने लगे ।  
 वेप - भूषा साज ऊपा आ गई ,  
 मुख-कमल-पर मुस्कराहट छा गई ।

पक्षियों की चहचहाहटः हो उठी ,  
चेतना की अधिक आहट हो उठी ,  
स्वप्न के जो रंग थे वे धुल उठे ,  
प्राणियों के नेत्र कुछ कुछ खुल उठे ।

दीप-कुल की ज्योति निष्प्रभ हो निरु ,  
रह गई अब एक घेरे में घिरी ।  
किन्तु दिनकर आ रहा, क्या सोच है ?  
उचित ही गुरुजन-निकट संकोच है ।  
हिम-कणों ने है जिसे शीतल किया ,  
और सौरभ ने जिसे नव बल दिया ,  
प्रेम से पागल पवन चलने लगा ,  
सुमन-रज सर्वांग में मलने लगा !  
प्यार से अंचल पसार हरा - भरा ,  
तारकाएँ खींच लाई है धरा ।  
निरख रत्न हरे गये निज कोप के ,  
शून्य रंग दिखा रहा है रोप के ।  
ठौर ठौर प्रभातियाँ होने लगी ,  
अलसता की ग्लानियाँ धोने लगी ।  
कौन भैरव-राग कहता है इसे ,  
श्रुति-पुटो से प्राण पीते है जिसे ?

दीखते थे रग जो धूमिल अभी ,  
 हो गये हैं अब यथायथ वे सभी ।  
 सूर्य के रथ में अरुण हय जुत गये ,  
 लोक के घर-द्वार ज्यों लिप-पुत गये ।  
 सजग जग-जीवन उठा विश्रान्त हो ,  
 मरण जिसको देख जड-सा भ्रान्त हो ।  
 दधि विलोडन, शास्त्रमन्थन सब कही ,  
 पुलक-पूरिक तृप्त तन-मन सब कही ।  
 खुल गया प्राची दिशा का द्वार है ,  
 गगन-सागर में उठा क्या ज्वार है !  
 पूर्व के ही भाग्य का यह भाग है ,  
 या नियति का राग-पूर्ण मुहाग है !

' अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में ,  
 कौन यह वाला सड़ी प्रासाद में ?  
 प्रकट-भूर्तिमती उपा ही तो नहीं ?  
 कान्ति की किरणों उजेला कर रही ।  
 यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई ,  
 आप विधि के हाथ से ढाली गई ।

कनक-सतिका भो कमल-सी कोमला ,  
 धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला ।  
 जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े—  
 हीरको मे गोल नीलम है जड़े ।  
 पद्मरागो से अघर मानो बने ,  
 मोतियो से दाँत निर्मित हैं घने ।  
 और इसका हृदय किससे है बना ?  
 यह हृदय ही है कि जिससे है बना ।  
 प्रेम-पूरित सरल कोमल चित्त से ,  
 तुल्यता को जा सके किस वित्त मे ?  
 शाण पर सब अग मानो चढ़ चुके ,  
 प्राण फिर उनमे पड़े जब गढ़ चुके ।  
 भलकता आता अभी तारुण्य है ,  
 आ गुराई से मिला आरुण्य है ।  
 लोल कुण्डल मण्डलावृत्ति गोल हैं ,  
 घन पटल-से केश, कान्त-कपोल हैं ।  
 देखती है जब जिधर यह सुन्दरी ,  
 दमकती है दामनी-सी द्युति-भरी ।  
 है करो मे भूरि भूरि भलाइयाँ ,  
 लचक जाती अन्यथा न कलाइयाँ ?

चूड़ियों के अर्थ, जो है मणिमयी, }  
 अग की ही कान्ति बुन्दन बन गई । }  
 एक ओर विशाल दर्पण है लगा ,  
 पार्श्व से प्रतिविम्ब जिसमे है जगा ।  
 मन्दिरस्था कौन यह देवी भला ?  
 किस कृती के अर्थ है इसकी कला ?  
 स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला ,  
 नाम है इसका उचित ही "ऊर्मिला" ।  
 शील-शौरभ की तरंगें आ रही ,  
 दिव्य-भाव भवाब्धि मे है ला रही ।

सौधसिंहद्वार पर अब भी वही ,  
 बाँसुरी रस-रागिनी मे बज रहो ।  
 अनुकरण करता उसीका कीर है  
 पजरस्थित जो मुरम्य शरीर हे ।  
 'ऊर्मिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की ,  
 या वहाँ दो खजनो की सृष्टि की !  
 मीन होकर वीर तब विस्मित हुआ ,  
 रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ !

प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—  
 “रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा ?”  
 पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी ,  
 और बोले—“लो, बता दूँ मैं अभी ।।  
 नाक का मोती अधर की कान्ति से ,  
 बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से ,  
 देखकर सहसा हुआ शुक मौन है ,  
 सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ।”  
 यो वचन कहकर सहास्य विनोद से ,  
 मुग्ध हो सौमित्रि मन के मोद से ।  
 पद्मिनी के पास मत्त मराल-से ,  
 हो गये आकर खड़े स्थिर चाल से ।  
 चारु चित्रित भित्तियाँ भी वे बड़ी ,  
 देखती ही रह गई मानो खड़ी ।  
 प्रीति से आवेग मानो आ मिला ,  
 और हार्दिक हास आँखों में गिला ।  
 मुस्कराकर अमृत वरसाती हुई ,  
 रसिकता में सुरस सरसाती हुई ,  
 ऊर्मिला बोली—“अजी, तुम जग गये ?  
 स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये ?”-



“मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जव से छुआ ,  
 जागरण रुचिकर तुम्हे जव से हुआ !”  
 गत हुई सलाप मे वह रात थी ,  
 प्रथम उठने की परस्पर बात थी ।  
 “जागरण है स्वप्न से अच्छा कही !”  
 ‘प्रेम मे कुछ भी बुरा होता नहीं !’  
 “प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए ,  
 योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए ?”  
 “धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता ,  
 मोहिनी-सी मूर्ति, मजु-मनोज्ञता ।  
 धन्य जो इस योग्यता के पास हैं ;  
 किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ ।”  
 “दास बनने का बहाना किसलिये ?  
 क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए ?  
 देव होकर तुम सदा मेरे रहो ,  
 और देवी हो मुझे रक्खो, अहो !”  
 ऊर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही ,  
 तब कहा सौमित्रि ने कि “यही सही ।  
 तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा ,  
 मैं तुम्हारा हूँ प्रणय-सेवी सदा ।”

फिर कहा—“वरदान भी दोगी मुझे ?  
 मानिनी, कुछ मान भी दोगी मुझे ?”  
 ऊर्मिला बोली—कि “यह क्या धर्म है ?  
 /कामना को छोड़कर ही कर्म है !”  
 “किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी ,  
 है तुम्हारे पाद - पद्मों में पड़ी ।  
 त्याग या स्वीकार कुछ भी हो भले ,  
 वह तुम्हारी वस्तु आश्रित-वत्सले !”  
 “शस्त्रधारी हो न तुम, विप के बुझे ,  
 क्यों न काँटों में घसीटोगे मुझे !  
 • अवश अवला हूँ न मैं, कुछ भी करो ,  
 किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो !”  
 “साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये ,  
 देखकर ही विप चढे जिनका अये !  
 अमृत भी पल्लव-पुटो में है भरा ,  
 विरस, मन को भी बना दे जो हरा ।  
 ‘अवश-अवला’ तुम ? सकल बल वीरता ,  
 विश्व की गम्भीरता, ध्रुव-धीरता ,  
 बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर ,  
 मर रही है, जो रही है सृष्टि भर !

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त भी ,  
 शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त भी ,  
 प्रेयसी, किसके सहज - ससर्ग से ,  
 दीखते है प्राणियों को स्वर्ग-से ?  
 जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर ,  
 चारु-चिन्तामणि-कला से होडकर ,  
 कल्पवल्ली-सी तुम्ही चलती हुई ,  
 बाँटती हो दिव्य-फल फलती हुई ।”  
 “खोजती है किन्तु आश्रय मात्र हम ,  
 चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम ;  
 प्रान्तरिक सुख-दुःख हम जिसमे धरें ,  
 और निज भव-भार यो हलका करें ।  
 उदपितुम—यह कीर क्या कहने चला ?  
 कह अरे, क्या चाहिए तुम्हको भला ?”  
 “जनकपुर की राज-कुञ्ज-विहारिका ,  
 एक सुकुमारी सलौनी सारिका !”  
 देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे ,  
 कर्मिला के नेत्र खजन - से फँसे ।  
 ‘तोडना होगा धनुष उसके लिए ;’  
 ‘तोड डाला है उसे प्रभु ने प्रिये !

—सुतनु, दूटे का भला क्या तोड़ना ?  
 कीर का है काम दाड़िम फोड़ना,—  
 होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे,  
 जन्म मिथिला या अयोध्या में घरे !”  
 ललित ग्रीवा-भंग दिखलाकर अहा !  
 ऊर्मिला ने लक्ष्य कर प्रिय को, कहा—  
 “और भी तुमने किया कुछ है कभी,  
 या कि सुगंही पढाये है अभी ?”  
 “वस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही !”  
 बात यह सौमित्रि ने सस्मित कही ।  
 “देख लूंगी”—ऊर्मिला ने भी कहा ;  
 विविध विध फिर भी विनोदामृत बहा ।  
 हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,  
 किन्तु वे होते अधिक हर्षित तभी ।  
 प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है,  
 हार में जिसमें परस्पर जीत है !

“कल प्रिये, निज आर्य का अभिषेक है,  
 सब कही आनन्द का अतिरेक है ।

राम-राज्य विधान होने जा रहा ,  
 पूत पर पावन नया युग आ रहा ।  
 अब नया वर-वेश होगा आर्य का ,  
 और साधन क्षत्र-कुल के कार्य का ।  
 दृग सफल होंगे हमारे शीघ्र ही ,  
 सिद्ध होंगे सुकृत सारे शीघ्र ही ।”  
 “ठीक है, पर कुछ मुझे देना कहो ,  
 मँत-मेत न दृष्टि-फल लेना कहो ,  
 तो तुम्हे अभिपेक दिखला दूँ अभी ,  
 दृश्य उसका सामने ला दूँ सभी ।”  
 { “चित्र क्या तुमने बनाया है अहा ?”  
 { हर्ष-से सौमित्रि ने साग्रह कहा—  
 { “तो तनिक लाओ, दिखाओ, है कहाँ ?  
 { ‘बुद्ध’ नहीं मैं ‘बहुन बुद्ध’ दूँगा यहाँ ।”  
 { ऊर्मिना ने मूर्ति बतकर प्रेम की ,  
 खीचकर मणि-खचित मचिया हेम की ,  
 आप प्रियतम को बिठा उसपर दिया ,  
 और लाकर चित्रपट सम्मुख किया ।  
 { चित्र भी था चित्र और विचित्र भी ,  
 रह गये चित्रस्थ-से सौमित्र भी ।

देख भाव-प्रवणता, वर-वर्णता, ~  
 वाक्य सुनने को हुई उत्कर्णता ।  
 तूलिका सर्वत्र मानो थी तुली,  
वर्ण-निधि-मो व्योम-पट पर थी खुली ।  
 चित्र के मिष, नेत्र विहगो के लिए,  
 आप मोहन-जाल माया थी लिये ।  
 मुय न अपनी भी रही सांमित्र को,  
 देर तक देखा किये वे चित्र को ।  
 अन्त में बोले बड़े ही प्रेम से—  
 "हे प्रिये, जीतो रहो सुम क्षेम से ।  
 दुर्ग-मम्मुख, दृष्टि रोध न हो जहाँ ;  
 है सभा-मण्डप बना विस्तृत वहाँ ।  
 भालरो में मजु मुञ्चा है पुहे,  
 माँग में जिस्त भाँति जाते हैं गुहे ।  
 दीर्घ खम्भे हैं बने वैदूर्य के,  
 ध्वज-पटो में चिह्न कुल-गुरु सूर्य के ॥  
 भूमि के आनन्द से नभ भी भरा,  
 फूल वरसाता हृदय लेकर हरा ।  
 तूयं वादक बाल कूद उमग में,  
 आ गया है नृत्य के भी-रग में ।

वज्र रहो है द्वार पर जय-दुन्दभी ,  
 और प्रहरी हैं खडे प्रमुदित सभो ।  
 क्षीम के छत मे लटकते गुच्छ है ,  
 सामने जिनके चमर भी तुच्छ है ।  
 पद्म पुजो से पटासन है पडे ,  
 और है वाघाम्बरो के पाँवडे ।  
 बीच मे है रत्न-सिंहासन बना ,  
 छन और वितान जिसपर है तना ।  
 आर्य दम्पति राजते अभिराम है ,  
 प्रकट तुलसी और शालग्राम हैं ।  
 सब सभासद शिष्ट है, नय-निष्ठ है ,  
 छोडते अभिप्रेक - वारि वसिष्ठ हैं ।  
 आर्य आर्या है तनिक कैसे भुके ,  
 आज मानो लोक-भार उठा चुके !  
 वरसती है खचित मणियो की प्रभा ,  
 तेज मे डूबी हुई है सब सभा ।  
 सुर सभा-गृह विम्व इसका ही वडा  
 व्योम-रूपी काच मे है जा पडा ।  
 पच-पुरजन सचिव सब प्रमुदित बडे ,  
 माण्डलिक नरवीर कैसे है खडे ।

हाथ में राजोपहार लिये हुए,  
 देश-देश-विचित्र-वेश किये हुए।  
 किन्तु मित्र नरेश सब कब आ सके ?  
 भरत भी न यहाँ बुलाये जा सके।  
 यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है,  
 जो अपूर्ण कला उसीकी पूर्ति है।  
 हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,  
 यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?  
 किन्तु होना चाहिए कब क्या, वहाँ,  
 व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।  
 मानते हैं जो कला के अर्थ ही,  
 स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।  
 वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,  
 चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये !  
 मञ्जरी-सी अँगुलियों में यह कला,  
 देखकर मैं क्यों न सुख भूलूँ भला ?  
 क्यों न अब मैं मत्त गज-सा भूम लूँ ?  
 कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ !”  
 कर बढाकर, जो कमल-सा था खिला,  
 मुस्कराई और बोली ऊमिला—



“मत्त गज बनकर विवेक न छोड़ना ,  
कर कमल कहकर न मेरा तोड़ना !”

वचन सुन सौमित्रि लज्जित हो गये ,  
प्रेम - सागर में निमज्जित हो गये ।  
पकड़कर सहसा प्रिया का कर वही ,  
चूमकर फिर फिर उसे बोले यही—  
“एक भी उपमा तुम्हें भाती नहीं ,  
ठीक भी है, वह तुम्हें पाती नहीं !  
सपन अब इससे रहूँगा मैं सदा ,  
अनुपमा, तुमको कहूँगा मैं सदा !  
मिथुन, पर चित्र मेरा है कहाँ ?  
“प्रिये, तुम्हारा कौन-सा पैर है, यहाँ ?  
“भोवती, मैं भार लूँ किस काम का ?  
एक सैनिक मात्र लक्ष्मण राम का ।  
“किन्तु सीता की बहन है ऊर्मिला ,  
बाह, उल्टा योग येह अच्छा मिला !  
अस्तु, कुछ देना तुम्हे स्वीकार हो ,  
तो तुम्हारा चित्र भी तैयार हो ।  
“श्रीरंजो नहुआं ?” गिरा प्रिय ने कही  
—“तो पलटकर आप मैं दूंगी वही ।

-होडकर यो ऊर्मिला उद्यत हुई ,  
 और तत्क्षण कार्य में वह रत हुई ।  
 ज्योति-सी सौमित्रि के सम्मुख जगी ,  
 चित्रपट पर लेखनी चलने लगी ।  
 अवयवों की गठन दिखलाकर नई ,  
 अमल जल पर कमल-से फूले बई ।  
 साथ ही सावित्व-सुमन खिलने लगे ,  
 लेखिका के हाथ कुछ हिलने लगे ।  
 झलक आया स्वेद भी मकरन्द-सा ,  
 पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मन्द-मा ।  
 चिबुक-रचना में उमग नहीं रकी ,  
 रंग फैला लेखनी आगे झुकी ।  
 एक पीत तरंग - रेखा - भी वही ,  
 और वह अभिप्रेत-घट पर जा रही ।  
 हँस पड़े सौमित्रि भावों से भरे ,  
 ऊर्मिला का वाक्य था केवल "अरे ।"  
 "रंग घट में ही गया, देखा, रहो ,  
 तुम चिबुक धरने चली थी, क्यों न हो ?"  
 ऊर्मिला भी कुछ लजाकर हँस पड़ी ,  
 वह हँसी थी मोतियों की-सी लड़ी ।

“बन पड़ी है आज तो !” उसने कहा—  
 “क्या करूँ, वस मे न मेरा मन रहा ।  
 हारकर तुम क्या मुझे देते कहो ?  
 मैं वही हूँ किन्तु कुछ का कुछ न हो ।”  
 हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बड़ा दिये ,  
 और बोले—“एक परिरम्भण प्रिये !”  
 सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया ,  
 एक तीक्ष्ण अपाग ही उसने दिया ।  
 किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया ,  
 आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया ।

बीत जाता एक युग पल-सा वहाँ ,  
 सुन पड़ा पर हर्ष कलकल-सा वहाँ ।  
 द्वार पर होने लगी विरुदावली ,  
 गूँजने सहसा लगी गगनस्थली ।  
 सूत, मागध, वन्दिजन यश पड उठे ,  
 छन्द और प्रबन्ध नूतन गढ उठे ।  
 मुरज, वीणा, वेणु आदिक वज उठे ,  
 विज्ञ वंतालिक सुरावट सज उठे ।

दम्पती चौंके, पवन-मण्डल हिला ,  
 चचला-सी छिटक छूटी ऊर्मिला ।  
 तब कहा सीमित्रि ने—“तो अब चलूँ ,  
 याद रखना किन्तु जो बदला न लूँ ?  
 देखने कुल-वृद्धि-सी पाताल से ,  
 आ गये कुलदेव भी द्रुत चाल से ।  
 दिन निकल आया, विदा दो अब मुझे ;  
 फिर मिले अवकाश देखूँ कब मुझे ?”  
 ऊर्मिला कहने चली कुछ, पर रुकी ,  
 और निज अचल पकडकर वह भुकी ।  
 भक्ति - सी प्रत्यक्ष भू - लग्ना हुई ,  
 प्रिय कि प्रभु के प्रेम, मे मग्ना हुई ।

भूमता था भूमितल को अर्द्ध विधु-सा भाल ,  
 बेछ रहे थे प्रेम के दृग - जाल बनकर बाल ।  
 उन्न - सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ ,  
 हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ ।

इसके आगे ? विदा विशेष ;  
 हुए दम्पती फिर अनिमेष ।  
 किन्तु जहाँ है मनोनियोग ,  
 वहाँ कहीं का विरह वियोग ?

दशो दिक्पालो के गुण-केन्द्र ,  
 धन्य है दशरथ मही - महेन्द्र ।  
 त्रिवेणी - तुल्य रानियाँ तीन ,  
 वहाती सुख - प्रवाह नवीन ।  
 मोद का आज न ओर न छोर ,  
 आम्र वन-सा फूला सब ओर ।  
 किन्तु हा ! फला न सुमन-क्षेत्र ,  
 कीट वन गये गये मन्थरा - नेत्र ।  
 देसकर कैकेयी यह हाल ,  
 आप उससे बोली तत्काल—  
 “अरी, तू क्यों उदास है आज ,  
 बत्स जब कल होगा युवराज ?”  
 मन्थरा बोली निस्सकोच—  
 “आपको भी तो है कुछ सोच ?”  
 हँसी रानी सुनकर वह बात ,  
 उठी अनुपम आभा अवदात ।  
 “सोच है मुझको निस्सन्देह ,  
 भरत जो है मामा के गेह ।  
 सफल करके निज निर्मल-दृष्टि ,  
 देख वह सका न यह सुख-सृष्टि !”

ठोककर अपना क्रूर - कपाल ,  
 जताकर यही कि फूटा भाल ,  
 किकरी ने तब कहा तुरन्त—  
 “हो गया भोलेपन का अन्त ।”  
 न समझी कँकेयी वह बात ,  
 कहा उसने—“यह क्या उत्पात ?  
 वचन क्यों कहती है तू वाम ?  
 नहीं क्या मेरा बेटा राम ?”  
 “और वे औरस भरत कुमार ?”  
 कुदासी बोली कर फटकार ।  
 कहा रानी ने पाकर खेद—  
 “भला दोनों में है क्या भेद ?”  
 “भेद ?”—दासी ने कहा सतर्क—  
 “सबेरे दिखला देगा अर्क ।  
 राजमाता होगी जब एक ,  
 दूसरी देखेगी अभिपेक !”  
 रोककर कँकेयी ने रोप ,  
 कहा—“देती है किसको दोष ?  
 राम की माँ क्या कल या आज ,  
 बहेगा मुझे न लोक - समाज ?”

कहा दासी ने धीरज त्याग—  
 “लगे इस मेरे मुहों में आग ।  
 मुझे क्या, मैं होती हूँ कौन ?  
 नहीं रहती हूँ फिर क्यों मौन ?  
 देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात ,  
 निकल ही जाती है कुछ बात ।  
 इधर भोली है ‘जैसी’ आप ,  
 समझती सबको वैसी ‘आप’ !  
 नहीं तो ‘यह सोचा पड़्यन्त्र ,  
 रचा क्यों जाता यहाँ स्वतन्त्र ?  
 महारानी । कौसल्या आज ,  
 सहज सज लेती क्या ‘सब साज’ ?”  
 —कहा रानी ने—“क्या—पड़्यन्त्र ?  
 वचन हैं तेरे भायिक मन्त्र ।  
 हुई जाती हूँ मैं उद्भ्रान्त ,  
 ‘खोलकर, कह तू, सब वृत्तान्त ।’  
 मन्थरा ने फिर ठोका भाल—  
 ‘शेष है अब भी क्या कुछ-हाल ?

V | सरलता भी ऐसी है , व्यर्थ ,  
 | समझ जो सके न . अर्थानर्थ ।



भरत को करके घर से त्याज्य,  
 राम को देते हैं नृप राज्य।  
 । | 'भरत से सुत पर भी सन्देह, *Om*  
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"  
 कहा कंकेयी ने सक्रोध—  
 'दूर हो दूर अभी निर्वोध।  
 नामने से हट, अधिक न दोल,  
 द्विजिह्वे, रस म विष मत घोल।  
 उडाती है तू घर मे कीच,  
 नीच ही होने हैं बस नीच।  
 हमारे आपस के व्यवहार,  
 कहां से समझे तू अनुदार?"  
 दुष्टा अकुचित भाल विराल,  
 कपोलो पर हिलते थे बाल।  
 प्रकट थी मानो शासन नीति,  
 मन्थरा सहमी देख सभीत।  
 तीक्ष्ण थे लोचन अटल अडोल,  
 लाल थे लाली भरे कपोल।  
 न दासी देख सकी उस श्रोत्रे,  
 जला दे कही न कोप कैठोर।

किन्तु वह हटी न अपने आप  
 खड़ी ही रहो नम्र चुपचाप ।  
 अन्त मे बोली स्वर-सा साध—  
 “क्षमा हो मेरा यह अपराध ।  
 स्वामि-सम्मुख सेवक या भृत्य,  
 आप ही अपराधी हैं नित्य ।  
 दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ,  
 कहा क्या मैंने अपने अर्थ ?  
 समझ मे आया जो कुछ भर्म,  
 उसे कहना था मेरा धर्म ।  
 न था यह मेरा अपना वृत्य,  
 भर्तृ है भर्तृ, भृत्य हैं भृत्य ।”  
 मही पर अपना माथा टेक,  
 भरा था जिसमे अति अविवेक,  
 किया दासी ने उसे प्रणाम,  
 और वह चली गई अविराम ।

गई दासी, पर उसकी बात  
 दे गई मानो कुछ आघात—

'भरत-से सुत पर भी सन्देह,  
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'  
 पवन भी मानो उसो प्रकार  
 क्षुब्ध मे करने लगा पुकार—  
 'भरत-से सुत पर भी सन्देह,  
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'  
 गूँजते थे रानी के कान,  
 तीर-सी लगती थी वह तान—  
 'भरत-से सुत पर भी सन्देह,  
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'  
 मूर्ति-सी बनी हुई उस ठौर,  
 खड़ी रह सकी न अब वह श्रौर।  
 गई शयनालय मे तत्काल,  
 गभीरा सरिता-सी थी चाल।  
 न सहकर मानो तनु का भार,  
 लेटकर करने लगी विचार।  
 कहा तब उसने—'हे भगवान,  
 आज क्या सुनते हैं ये कान ?  
 मनोमन्दिर की मेरी शान्ति,  
 पगी जाती है क्यों उत्क्रान्ति ?

लगा दी किसने आकर आग ?  
 कहाँ था तू सशय के नाम ?  
 नाथ, कैकेयी के वर-वित्त,  
 चीरकर देखो उसका चित्त ।  
 स्वार्थ का वहाँ नहीं है लेश,  
 वसे हो एक तुम्ही प्राणेश !  
 सदा थे तुम भी परमोदार,  
 हुआ क्यों सहसा आज विकार ?  
 भरत-से सुत पर भी सन्देह,  
 बुलाया तक न उसे जो गेह !  
 न थी हम माँ-बेटे की चाह,  
 ग्राह ! तो खुली न थी क्या राह !  
 मुझे भी भाई के घर नाथ,  
 भेज क्यों दिया न सुत के साथ ?  
 राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ,  
 राम मे गुण भी हैं सब श्रेष्ठ ।  
 भला फिर भी क्या मेरा वत्स  
 शान्त रस में; बनता वीभत्स ?  
 तुम्हारा अनुज भरत है राम,  
 नहीं है क्या नितान्त निष्काम ?

जानते जितना तुम कुलधन्य,  
 भरत को कौन जानता अन्य?  
 भरत रे भरत, शील-समुदाय,  
 गर्भ मे आकर मेरे हाथ !  
 हुआ यदि तू भी सशय-पात्र,  
 दग्ध हो तो मेरा यह गात्र !  
 चली जा पृथिवी, तू पाताल,  
 आपको सशय मे मत डाल ।  
 कहीं तुझपर होता विश्वास,  
 भरत मे पहले करता वास !  
 अहे विश्वास, विश्व-विख्यात,  
 किया है किसने तेरा घात ?  
 भरत ने ? वह है तेरी मूर्ति,  
 राम ने ? वह है प्राणस्फूर्ति ।  
 देव ने ? वे है सद्य सदैव,  
 दैव ने ? हा घातक दुर्देव !  
 तुझे क्या है अदृष्ट, है इष्ट ?  
 सूर्य - कुल का हो आज अनिष्ट ?  
 बाँध सकता है कहाँ परन्तु—  
 राघवो को अदृष्ट का तन्तु ?

भाग्य-वश रहते है वस दीन,  
 होर रखते हैं उसे अधीन।  
 हाय ! तब तूने अरे अदृष्ट,  
 किया क्या जोजी को आकृष्ट ?  
 जानकर अवला, अपना जाल—  
 दिया है उस सरला पर डाल ?  
 किन्तु हा ! यह कैसा सारल्य ?  
 सालता है जो बनकर शल्य।  
 भरत-से सुत पर भी सन्देह,  
 बुलावा तक न उसे जो गेह !  
 वहन कौसल्ये, कह दो सत्य,  
 भरत था मेरा कभी अपत्य ?  
 पुत्र था कभी तुम्हारा राम ?  
 हाय रे ! फिर भी यह परिणाम ?  
 किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय,  
 सहूँगी कभी न यह अन्याय।  
 करूँगी मैं इसका प्रतिकार,  
 पलट जावे चाहे ससार।  
 नहीं है कैंकेयी निर्वोध,  
 पुत्र का भूले जो प्रतिशोध।

कहे सब मुझको लोभासक्त,  
किन्तु सुत, हूजो तू न विरक्त।”

भरत की माँ हो गई अधीर,  
क्षोभ से जलने लगा शरीर।  
दाह से भरा सौतिया डाह,  
बहाता है बस विषप्रवाह।  
मानिनी कैकेयी का कोप  
बुद्धि का करने लगा विलोप।  
और रह सकी न अब वह शान्त,  
उठी आँधी-सी होकर भ्रान्त।  
एढियो तक आ छूटे केश,  
हुआ देवी का दुर्गा-वेश।  
पडा तब जिस पदार्थ पर हस्त,  
उसे कर डाला अस्त-व्यस्त।  
तोडकर फेंके सब शृंगार,  
अश्रुमय-से थे मुक्ता-हार।  
मत्त करिणी-सी दलकर फूल,  
घूमने लगी आपको भूल।

चूर वर डाले सुन्दर चित्र,  
 हो गये वे भी आज अमित्र।  
 वताते थे आ आकर आस—  
 हृदय का ईर्ष्या वह्नि - विवास।  
 पतन का पाते हुए प्रहार  
 पात्र करते थे हाहाकार—  
 'दोष किसका है, किसपर रोष,  
 विन्तु यदि अब भी हो परितोष।'

इसी क्षण कौस्तुभ अन्यत्र,  
 सजाकर पट - भूषण एवत्र—  
 वधू को युवराजी के योग्य,  
 दे रही थी उपदेश मनोज्ञ।  
 इधर कँकेयी उनका चित्र  
 खींचती थी सम्मुख अपवित्र।  
 दोष - दर्शी होता है द्वेष,  
 गुणो को नहीं देखता त्वेष।  
 राजमाता होकर प्रत्यक्ष,  
 उसे करके वे मानो लक्ष,



खड़ी हँसती । है बारबार  
हँसी है वह या असि की धार ?  
उठी तत्क्षण कँकेयी काँप ,  
अधर-दशन करके कर चाप ।  
भूमि पर पटक पटककर पैर ,  
लगी प्रकटित करने निज वैर ।  
अन्त मे सारे अग समेट  
गई वह वही भूमि पर लेट ।  
छोडती थी जब तब हुड्कार ,  
चुटीली फणिनी - सी फुड्कार ।

इधर यो हुआ रग मे भग ,  
ऊर्मिला इधर प्राणपति सग ,  
भरत-विषयक ही वार्त्तालाप  
छेडकर सुनती थी चुपचाप ।  
बताते थे लक्ष्मण वह भेद ,  
कि "इसका है हम सबको खेद ।  
किन्तु अवसर था इतना अल्प ,  
न आ सकते थे शुभ - सकल्प ।

परे थी और न ऐसी लग्न ,  
 पिता भी थे आतुरता - मग्न ।  
 चलो, अविभिन्न आर्य की मूर्ति  
 करेगी भरत - भाव की पूर्ति ।”

इस समय क्या करते थे राम ?  
 हृदय के साथ हृदय - संग्राम ।  
 उच्च हिमगिरि-से भी वे धीर  
 सिन्धु-सम थे सम्प्रति गम्भीर ।  
 उपस्थित वह अपार अधिकार  
 दोख पडता था उनको भार ।  
 पिता का निकट देख वन-वास  
 हो रहे थे वे आप उदास ।  
 हाय ! वह पितृ-वत्सलता-भोग ,  
 और निज बाल्यभाव का योग ,  
 विगत-सा समझ एक ही सग ,  
 शिथिल-से थे उनके सब अंग ।  
 कहा वंदेही ने—“हे नाथ ,  
 अभी तक चारो भाई साथ—

भोगते थे तुम सम-सुख-भोग ,  
व्यवस्था भेट रही वह योग ।  
भिन्न-सा करके कौशलराज-  
राज्य देते हैं तुमको आज ।  
तुम्हें रुचता है यह अधिकार ?  
“राज्य है प्रिये, भोग या भार ?  
बड़े के लिए बड़ा ही दण्ड !  
प्रजा की थाती रहे अखण्ड ।  
तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य ,  
यहाँ राहित्य नहीं, साहित्य ।  
रहेगा साधु भरत का मन्त्र ,  
मनस्वी लक्ष्मण का बल तन्त्र ।  
तुम्हारे लघु देवर का धाम ,  
मात्र दायित्व-हेतु है राम ।’  
“नाथ, यह राज-नियुक्ति पुनीत ,  
किन्तु लघु देवर की है जीत ।  
हुआ जिनके अधीन नृप-गेह ,  
सचिव-सेनापति-सह सस्नेह !”

कोपना कैकेयी की बात—  
 किसीको न थी अभी तक ज्ञात ।  
 न जाने पृथ्वी पर प्रच्छन्न  
 कहाँ क्या होता है प्रतिपन्न ।

भूप क्या करते थे इस काल ?  
 लेखनी लिख उनका भी हाल ।  
 भूप बैठे थे कुलगुरु-सग,  
 भरत का ही था छिड़ा प्रसग ।  
 कहा कुलगुरु ने—“निस्सन्देह,  
 खेद है भरत नहीं जो गेह ।  
 किन्तु यह अवसर था उपयुक्त  
 कि नृप हो जावें चिन्ता-मुक्त ।”  
 भूप बोले—“हाँ, मेरा चित्त,  
 विकल था आत्म-भविष्य-निमित्त ।  
 इसीसे था मैं अधिक अधीर,  
 आज है तो कल नहीं शरीर ।  
 मारकर घोखे मे मुनि-बाल  
 हुआ था मुझको शाप कराल ।

कि 'तुमको भी निज पुत्र-वियोग  
 बनेगा प्राण-विनाशक रोग ।'  
 अस्तु यह भरत-विरह अक्लिष्ट  
 दुःखमय होकर भी था दृष्ट ।  
 इसी मिष पा जाऊँ चिरशान्ति  
 सहज ही समझूँ तो निष्क्रान्ति !"  
 दिया नृप को वसिष्ठ ने धैर्य ,  
 कहा—“यह उचित नहीं अस्वैर्य ।  
 ईश के इगित के अनुमार  
 हुआ करते हैं सब व्यापार ।”  
 “ठीक है” इतना कहकर भूप  
 शान्त हो गये सौम्य शुभरूप ।  
 हो रहा था उस नमय दिनान्त ,  
 वायु भी था मानो कुछ श्रान्त ।  
 गोत्र-गुरु और देव भी आद्य  
 प्रणति युत पाकर अर्घ्य सपाद्य ,  
 गये तब जाना था जिस ओर ,  
 चले नृप भी भीतर इस ओर ।

'गरुण सन्ध्या को आगे ठेल ,  
 खने को नूतन कुछ नूतन खेल ,  
 जे विधु की वेदी से भाल ,  
 तामिनी आ पहुँचो तत्काल ।  
 तामने कैकेयी का गेह  
 शान्त देखा नृप ने सस्नेह ।  
 मन्थरा किन्तु गई थी ताड़  
 कि यह है ज्वालामुखी पहाड़ !  
 धारे तब भीतर भूपाल ,  
 वहाँ जाकर देखा जो हाल ,  
 रह गये उससे वे जड़ - तुल्य ,  
 बड़ा भय - विस्मय का बाहुल्य ।  
 न पाकर मानो आज शिकार  
 सिंहिनी सोती थी सविकार ।  
 कोप क्या इसका यह एकान्त  
 प्राण लेकर भी होगा शान्त ?  
 कुशल है यदि ऐसा हो जाय ,  
 भूप-मुख से निकला वस "हाय !"  
 दूटकर यह तारा इस रात  
 न जाने, करे न क्या उत्पात !

८ पड़ी थी बिजली - सी विकराल ,  
 लपेटे थे घन - जैसे / बाल ।  
 कौन छेडे ये काले साँप ?  
 अवनपति उठे अचानक काँप ।  
 किन्तु क्या करते, धीरज, धार ,  
 ८ { बैठ पृथिवी पर पहली बार ,  
 खिलाते - से वे व्याल विशाल ,  
 विनय पूर्वक बोले भूपाल—  
 “प्रिये, किसलिए आज यह क्रोध ?  
 नहीं होता कुछ मुझको बोध ।  
 तुम्हारा घन है मान अवश्य ,  
 किन्तु हूँ मैं तो यो ही वश्य ।  
 जान पड़ता यह नहीं विनोद ,  
 आज यद्यपि सबको है मोद ।  
 सजे जाते है सुख के साज ,  
 तुम्हे क्या दुख हुआ है आज ?  
 अम्ल होकर भी मधुर रसाल ,  
 गया निज प्रणय-कलह का काल ,  
 आज होकर हम रागातीत ,  
 हुए घेमी से पितर पुनीत ।

भरत की अनुपस्थिति का खेद ,  
 किन्तु है इसमें ऐसा भेद ,  
 निहित है जिसमें मेरा क्षेम ,  
 प्रिये, प्रत्यय रखता है प्रेम ।  
 हुआ हो यदि कुछ रोग-विकार ,  
 बुलाऊँ वैद्य, करूँ उपचार ।  
 अमृत भी मुझको नहीं अलभ्य ,  
 कि मैं हूँ अमर-सभा का सभ्य ।  
 क्या हो कही किसीने दोष  
 कि जिसके कारण है यह रोष ,  
 बता दो तो तुम -उसका नाम ,  
 देव है निश्चय उसपर वाम ।  
 सुनूँ मैं उसका नाम सुमिष्ट ,  
 कौन - मो वस्तु तुम्हें है इष्ट ?  
 जहाँ तक दिनकर-कर-प्रसार ,  
 वहाँ तक समझो निज अधिकार ।  
 किसीको करना हो कुछ दान ,  
 करो तो दुगुना आज प्रदान ,  
 भरा रत्नाकर - सा भण्डार  
 रीत सक्ता है किसी प्रकार ?



माँगना हो तुमको जो आज  
 माँग लो, करो न कोप न लाज ।  
 तुम्हे पहले ही दो वरदान  
 प्राप्य है, फिर भी क्यों यह मान ?  
 याद है वह सवर-रण-रंग ,  
 विजय जब मिली वरगों के संग ?  
 किया था किसने मेरा आण ?  
 विकल क्यों करती हो अब प्राण ?”

हुआ सचमुच यह प्रिय संवाद ,  
 आ गई कैकेयो को याद ।  
 विना खोले फिर भी वह नेत्र ;  
 चलाने लगी वचन मय वेन ।  
 “चलो, रहने दो भूछी प्रीति ,  
 जानती हूँ मैं यह नृप - नीति ।  
 दिया तुमने मुझको क्या मान ,  
 वचन मय वही न दो वरदान ?”  
 भूप ने कहा—“न मारो बोल ,  
 दिसाऊँ बहो हृदय को खोल ?

तुम्हीने मांगा कब क्या आप ?  
 प्रिये, फिर भी क्यों यह अभिशाप ?  
 भला, मांगो तो कुछ इस बार,  
 कि क्या दूँ दान, नहीं, उपहार ?  
 मानिगी बोली निज अनुरूप—  
 “न दोगे वे दो वर भी भूप !”  
 कहा नृप ने लेकर निःश्वास—  
 “दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास ?  
 परीक्षा कर देखो कमलाक्षि,  
 सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि !  
 सत्य से हो स्थिर है ससार,  
 सत्य ही सब धर्मों का सार,  
 राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,  
 सत्य पर सकता है सब वार ।”  
 सरल नृप को छलकर इस भाँति,  
 गरल उगले उरगो जिस भाँति,  
 भरत-मुत-मणि की माँ मुदमान,  
 मांगने चली उभय वरदान—  
 “नाथ, मुझको दो यह वर एक—  
 भरत का करो राज्य-अभिषेक ।

दूसरा, सुन लो, न हो उदास ,  
।चतुर्दश वर्ष गम-वन-वास ।”

वचन सुन ऐसे क्रूर कराल ,  
- देखते ही रह गये नृपाल ।  
वज्र-मा पडा अचानक टूट ,  
गया उनका शरीर - सा छूट ।  
उन्हें यो हतज्ञान - सा देख ,  
ठोक्ती-मी छाती पर मेख ,  
पुन बोली वह भीहे तान—  
“भीन हो गये, कहो हाँ या न ।”  
भूष फिर भी न सके कुछ बोल ,  
भूति से बँठे रहे अडोल ।  
दृष्टि ही अपनी करण बठोर ,  
उन्होंने डाली उसकी ओर ।  
कहा फिर उसने देकर क्लेश—  
“मृत्यु-पालन है यही नरेश ?  
उलट दो वस तुम अपनी वान ,  
महँ मैं करके अपना घात ।”

कहा तब नृप ने किसी प्रकार—

“मरो तुम क्यों, भोगो अधिकार ।

मरूँगा तो मैं अगति-समान ,

मिलेगे तुम्हें तीन वरदान ।”

देख ऊपर को अपने आप

लगे नृप करने यो परिताप—

“दैव, यह सपना है कि प्रतीति ?

यही है नर-नारो की प्रीति ?

किसोका न दें कभी वर देव ,

वचन देना छोड़ें नर देव ।

दान में दुरूपयोग का वास ,

किया जावे किसका विश्वास ?

जिसे चिन्तामणि-माला जान ,

हृदय पर दिया प्रधानस्थान ,

अन्त में लेकर यो विष-दन्त

नागिनी निकली वह हा हन्त !

राज्य का ही न तुम्हें था लोभ ,

राम पर भी था इतना क्षोभ ?

न था वह निस्पृह तेरा पुत्र ?

भरत ही था क्या मेरा पुत्र ?

राम-से सुत को भी वनवास ,  
 सत्य है यह अथवा परिहास ?  
 सत्य है तो है सत्यानारा ,  
 हास्य है तो है हत्या-पाश ।”  
 प्रतिध्वनि-मिष ऊँचा प्रासाद  
 निरन्तर करता था अनुनाद ।  
 पुन बोले मुहँ फेर महीप—  
 “राम, हा राम, वत्स, कुल-दीप ।”  
 हो गये गद्गद वे इस वार ,  
 तिमिरमय जान पडा ससार ।  
 गृहागत चन्द्रालोक-विधान  
 जँचा निज भावी सब-परिधान ।  
 सौध वन गया श्मशान-समान ,  
 मृत्यु सी पडी कँकेयो जान ।  
 चिता के अगारे-से दीप ,  
 जलाते थे प्रज्वलित समीप ।  
 “हाय ! कल क्या होगा ?” कह काँप ;  
 रहे वे घुटनो मे मुहँ ढाँप ।  
 आपसे ही अपने को आज  
 छिपाते थे मानो नरराज ।

वचन पलटें कि भेजें राम को वन में,  
 उभय विघ्न मृत्यु निश्चित जानकर मन में,  
 हुए जीवन - मरण के मध्य घृत - से वे,  
 रहे वस अर्द्ध जीवित, अर्द्ध मृत - से वे ।

इसी दशा में रात कटी,  
 छाती - सी पौ प्रात फटी ।  
 अरुण भानु प्रतिभात हुआ,  
 विरूपाक्ष - सा ज्ञात हुआ !

## तृतीय सर्ग

जहाँ अभिषेक-अम्बुद छा रहे थे ,  
मयूरो-मे सभी मुद पा रहे थे ,  
वहाँ परिणाम मे पत्थर पडे यो ,  
खडे ही रह गये सब थे खडे ज्यो ।  
करें क्या क्या, इसे बस राम जानें ,  
वही अपने अलीखन काम जानें ।  
कहाँ है कल्पने ! तू देख पाकर ,  
स्वय ही सत्य हो यह भीत गाकर ।

विदा होकर प्रिया से वीर लक्ष्मण—  
 हुए नत राम के आगे उसी क्षण ।  
 हृदय से राम ने उनको लगाया ,  
 कहा—“प्रत्यक्ष यह साम्राज्य पाया ।”  
 हुआ सौमित्रि को सकोच सुनके ,  
 नयन नीचे हुए तत्काल उनके ,  
 न वे कुछ कह सके प्रतिवाद-भय से ,  
 समझते भाग्य थे अपना हृदय से ।  
 कहा आनन्दपूर्वक राम ने तब—  
 “चलो, पितृ-वन्दना करने चलें अब ।”  
 हुए सौमित्रि पीछे, राम आगे—  
 चले तो भूमि के भी भाग्य जागे ।  
 अयोध्या के अजिर को व्योम जानो ,  
 उदित उसमें हुए सुरवैद्य मानो ।  
 कमल-दल-से विछाते भूमितल में ,  
 गये दोनों विमाता के महल में ।

पिता ने उस समय ही चेत पाकर ,  
 कहा—“हा राम, हा सुत, हा गुणाकर ।”



सुना करणा-भरा निज नाम ज्यो ही,—  
 चकित होकर बड़े भट राम त्यो ही ।  
 अनुज-युत हो उठे व्याकुल बड़े वे,  
 हुए जाकर पिता-मम्मुख खड़े वे ।  
 दशा नृप की विकट सवटमयो थी,  
नियति-सी पास बैठी केकयी थी ।  
 अनैसर्गिक घटा-सी छा रही थी,  
 प्रलय-घटिका प्रकटता पा रही थी ।  
 नृपति कुछ स्वप्नगत-से मौन रहकर—  
 पुन चिल्ला उठे—“हा राम !” कहकर ।  
 कहा तब राम ने—“हे तात ! क्या है ?  
 खड़ा हूँ राम यह मैं, बात क्या है ?  
 हुए क्यों मौन फिर तुम ? हाय ! बोलो,  
 उठो, आदेश दो, निज नेत्र खोलो ।”  
 वचन सुनकर फिरा फिरबोध नृप का,  
 हुआ पर साथ ही हृद्रोध नृप का ।  
 पलक सूजे हुए निज नेत्र खोले,  
 रहे वे देखते ही, कुछ न बोले !  
 पिता की देखकर ऐसी अवस्था,  
 भँवर में पोत की जैसी अवस्था !

अवनि की ओर दोनों ने विलोका,  
 बड़े ही कष्ट से निज वेग रोका।  
 बढाई राम ने फिर दृष्टि-रेखा,  
 विमाता केकयी को ओर देखा।  
 कहा भी—“देवि ! यह क्या है, सुनूं मैं,  
 कुसुम-सम तात के कण्टक चुनूं मैं।”  
 “सुनो हे राम ! कण्टक आप हूँ मैं,  
 कहूँ क्या और, वस, चुपचाप हूँ मैं।”  
 हुई चुप केकयी यह बात कहकर,  
 रहे चुप राम भी आघात सहकर !  
 कहा सौमित्रिने—“माँ ! चुप हुई क्यों ?  
 चुभाती चित्त में हो यो सुई क्यों ?  
 न हो कण्टक पिता के हेतु, मानो,  
 हमे पितृ-भक्त भार्गव-तुल्य जानो।”

इसी क्षण भूप ने कुछ शक्ति पाई,  
 पिता ने पुत्र को दृढ़ भक्ति पाई।  
 बढाकर बाहु तब वे छटपटाये,  
 उठे, पर पैर उनके लटपटाये !

चढ़ाकर मौन-रोदन-रत्न-माला ,  
 पिता को राम-लक्ष्मण ने सँभाला ।  
 पिता ने भी किया अभिषेक मानो ,  
 न रक्खी सत्य की भी टेक मानो ।  
 हृदय से भूप ने उनको लगाया ,  
 कहा—“विश्वाम ने मुझको ठगाया ।”  
 निरखती केकयी थी भाँह तानें ,  
 चढ़ाकर कोप से दो दो कमान ।  
 पकड़कर गम की ठोड़ी, ठहरके ,  
 तथा उनका वदन उस ओर करके  
 रुहा गतधैर्य होकर भूपवर ने—  
 “चली है, देख, तू क्या आज करने ।  
 अभागिन ! देख, कोई क्या कहेगा ?  
 यही चौदह वरम वन में रहेगा ।  
 विभव पर हाय ! तू भव छोड़नी है ,  
 भरत का गम का जुग फोड़ती है ।  
 भरत का भी न ऐसे राज्य होगा ,  
 प्रजा-कोपाग्नि का वह राज्य होगा ।  
 मटंगा में तथा पछतायगी तू ,  
 यही फल अन्त में बस पायगी तू ।”

हुए आवेग से भूपाल गद्गद ,  
 तरंगित हो उठा फिर शोक का नद ।  
 पुन करने लगे वे राम-रटना ,  
 समझ ली राम ने भी सर्व घटना ।  
 विमाता बन गई आँधी भयावह ,  
 हुआ चंचल न तो भी श्याम घन वह !  
 पिता को देख तापित भूमितल-सा ,  
 वरसने यो लगा वर-वाक्य जल-सा—  
 “अरे यह बात है, तो खेद क्या है ?  
 भरत मे और मुझमे भेद क्या है ?  
 करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन ,  
 करूँगा मैं विपिन मे धर्म-पालन ।  
 पिता ! इसके लिए ही ताप इतना !  
 तथा माँ को अहो ! अभिशाप इतना !  
 न होगी अन्य की तो राज-सत्ता ,  
 हमारी ही प्रकट होगी महत्ता ।  
 उभय विघ सिद्ध होगा लोक-रजन ,  
 यहाँ जन-भय वहाँ मुनि-विघ्न-भजन ।  
 मुझे था आप ही बाहर विचरना ;  
 धरा का धर्म-भय था दूर करना ।

करो तुम धैर्य-रक्षा, वेश-रक्षा ,  
 करूंगा क्या न मैं आदेश-रक्षा ?  
 मुझे यह इष्ट है, चिन्तित न हो तुम ,  
 पड़ूँ मैं आग में भी जो कहो तुम !  
 तुम्हीं हो तात ! परमाराध्य मेरे ,  
 हुए सब धर्म अब सुखसाध्य मेरे ।  
 अभी सबसे विदा होकर बला मैं ,  
 करूँ क्यों देर शुभ विधि में भला मैं ?”  
 हुए प्रभु मौन आज्ञा के लिए फिर ,  
 विवश नृप भी हुए अत्यन्त अस्थिर ।  
 “हुए क्यों पुत्र तुम हे राम ! मेरे ?  
 यही है क्या पिता के काम मेरे !  
 विधाता !—” बस न फिर कुछ कह सकें वे ,  
 हुए मूर्च्छित, न बाधा सह सकें वे ।  
 घसकने-सी लगी नीचे घरा भी !  
 पसीजी पर न पापाणी जरा भी !

निरखते स्वप्न थे सौमित्र मानो !  
 स्वयं निस्पन्द थे, निज चित्र मानो !

समझते थे कि मिथ्याऽलीक है यह ,  
 यही बोले कि—“माँ ! क्या ठीक है यह ?”  
 कहा तब केकयी ने—“क्या कहूँ मैं ?  
 कहूँ तो रेणुका बनकर रहूँ मैं !  
 खड़ी हूँ मैं, वनो तुम मातृघाती ,  
 भरत होता यहाँ तो मैं बताती ।”  
 गई लग गाय-सो, सौमित्रि भडके ,  
 अघर फडके, प्रलय-घन-तुल्य तडके !  
 “अरे, मातृत्व तू अब भी जताती ;  
 ठसक किसको भरत की है बताती ?  
 भरत को मार डातूँ और तुझको ,  
 नरक में भी न रखूँ ठौर तुझको !  
 युधाजित् आततायी को न छोड़ूँ ,  
 वहन के साथ भाई को न छोड़ूँ ।  
 चुला ले सब सहायक शीघ्र अपने ,  
 कि जिनके देखती है व्यर्थ सपने ।  
 सभी सौमित्रि का बल आज देखें ,  
 कुचक्री चक्र का फल आज देखे ।  
 भरत को सानती है आपमें क्यों ?  
 प... मय... १ प... १ १

हुए वे साधु तेरे पुत्र ऐसे—  
 कि होता कीच से है कज जैसे ।  
 भरत होकर यहाँ क्या आज करते ,  
 स्वयं हो लाज से वे डूब मरते !  
 तुझे सुत-भक्षिणी साँपिन समझते ,  
 निशा को, मुहँ छिपाते, दिन समझते !  
 भला वे कौन है जो राज्य लेवे ,  
 पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें ?  
 प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा ,  
 मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा ।”  
 वचन सुन केरुयी कुछ भी न बोली ,  
 गरल को गाँठ होठो पर न धोली ।  
 विवश थी, वाक्य उनके सह गई वह ,  
 अघर ही काटकर वस रह गई वह ।  
 अनुज की ओर तब अवलोक करके ,  
 कहा प्रभु ने उन्हें यो रोक करके—  
 “रहो, मौमित्रि ! तुम क्या कह रहे हो ?  
 सँभालो बेग, देखो, वह रहे हो !”  
 “रहूँ ?”—मौमित्रि बोले—“चुप रहूँ मैं ?  
 तुझा अन्याय चुप रहकर मरूँ मैं ?

असम्भव है कभी होगा न ऐसा ,  
 वही होगा कि है कुल-धर्म जैसा ।  
 चलो, सिंहासनस्थित हो सभा में ,  
 वही हो जो कि समुचित हो सभा में ।  
 चले वे भी कि जो हो विघ्नकारी ,  
 कहो तो लौट दूँ यह भूमि सारी ?  
 खड़ा है पार्श्व में लक्ष्मण तुम्हारे ,  
 मरें आकर अभी अरिगण तुम्हारे ।  
 अमर गण भी नहीं अनिवार्य मुझको ,  
 सुनूँ मैं कौन दुष्कर कार्य मुझको !  
 तुम्हें कुछ भी नहीं करना पड़ेगा ,  
 स्वयं सौमित्रि ही आगे अड़ेगा ।  
 मुझे आदेश देकर देख लीजे ,  
 न मन में नाथ ! कुछ सकोच कीजे ।  
 इधर मैं दास लक्ष्मण हूँ तुम्हारा ,  
 उधर हो जाय चाहे लोक सारा ।  
 नहीं अधिकार अपना वीर खोते ,  
 उचित आदेश ही हैं मान्य होते ।  
 सड़ी हैं माँ वनो जो नागिनी यह ,  
 अनार्या की जनी, हतभागिनी यह ;



अभो विपदन्त इसके तोड दूंगा ,  
 न रोको तुम, तभी मैं शान्त हूँगा ।  
 | वने इस दस्युजा के दास है जो ,  
 इसीसे दे रहे वनवास हैं जो ,  
 पिता हैं वे हमारे या—कहूँ क्या ?  
 कहो हे आर्य ! फिर भी चुप रहूँ क्या ?"  
 कहा प्रभुने कि—“हाँ, बस चुप रहो तुम ,  
 अरन्तुद वाक्य कहते हो अहा ! तुम !  
 जताते कोप किसपर हो, कहो तुम ?  
 सुनो, जो मैं कहूँ, चंचल न हो तुम ।  
 मुझे जाता समझकर आज वन को ,  
 न यो कलुषित करो प्रेमान्व मन को ।  
 तुम्हीको तात यदि वन-वास देते ,  
 उन्हें तो क्या तुम्ही यो त्रास देते ?  
 पिता जिस धर्म पर यो मर रहे हैं ,  
 नहीं जो इष्ट वह भी कर रहे हैं ,  
 उन्ही कुल-केतु के हम पुन होकर—  
 करें राजत्व क्या वह धैर्य खोकर ?  
 प्रकृति मेरी स्वयं तुम जानते हो ,  
 ब्रथा हठ हाय ! फिर क्यों ठानते हो ?

बड़ो को बात है अविचारणीया ,  
 मुकुट-मणि तुल्य शिरसा धारणीया ।  
 वचन रखे बिना जो रह न सकते ,  
 तदपि वात्सल्य-वश कुछ कह न सकते ,  
 उन्ही पितृदेव का अपमान लक्ष्मण ?  
 किया है आज क्या कुछ पान लक्ष्मण !  
 उच्छ्वस होना कठिन है तात क्षण से ,  
 अधिक मुझको नहीं है राज्य तृण से ।  
 मनःशासक बनो तुम, हठ न ठानो ,  
 अखिल ससार अपना राज्य जानो ।  
 समझ लो, दैव की इच्छा यही है ;  
 करे जो कुछ कि वह रोता वही है ।  
 मुझे गौरव मिला है आज, आओ ,  
 विदा देकर प्रणय से जी जुड़ाओ ।”  
 बड़ी तापिच्छ-शाखा-सी भुजाएँ—  
 अनुज की ओर दायें और बायें ।  
 जगत् समार मानो क्रोडगत था ,  
 क्षमा-छाया तले नत था, निरत था ।

मिट्टा सीमित्रि का वह कोप सारा ,  
 उमड़ आई अचानक अश्रु-धारा ।  
 पदाब्जो पर पड़े वे आप ज़र तब—  
 किया प्रभु ने उन्हें भुजवद्ध तब तक ।  
 मिले रवि चन्द्र-सम युग बन्धु ज्यो ही ,  
 अमा का तम चतुर्दिक देख त्यो ही ,  
 लगे बालक-महेश नृप वृद्ध रोने ,  
 विगत सर्वस्व-सा समझा उन्होंने ।

कहा इस ओर अग्रज से अनुज ने ,  
 पकड़ उनके चरण उस दीर्घभुज ने—  
 “वही हो जो तुम्हे हो इष्ट मन मे ,  
वने नूतन अयोध्या नाथ वन मे !  
 भले ही देव का बल देव जाने  
 पुरुष जो है न कयो पुरुषार्थ माने ?  
 हुआ, कुछ भी नहीं मैं जानता हूँ ,  
 तुम्हे जो मान्य है सो मानता हूँ ।  
 विदा की बात किससे और किसकी ?  
 अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ ! इसकी ।

मुझे यदि मारना है, मार डालो,  
 निकालो तो न जीते जी निकालो।  
 प्रभो ! रखो सदा निज दास मुझको,  
 कि पिछ्वासन न हो गृह-वास मुझको।  
 अयोध्या है कि यह उसका चिता बन?  
 करूँगा क्या यहाँ मैं प्रेत-साधन?"  
 "अरे, यह क्या"—कहा प्रभु ने कि "यह क्या?  
 समझने हो बिदा को तुम विरह क्या?  
 तुम्हें क्या योग्य है उद्देग ऐसा?  
 सुनो, जो चित्त में है, दूर कैसा?  
 पिता हैं और है माता यहाँ पर,  
 भरत शत्रुघ्न से भ्राता यहाँ पर,  
 अनुज ! रहना उचित तुमको यही है,  
 यहाँ जो है निदिव में भी नहीं है।  
 मुझे वन में न कुछ आयास होगा,  
 सतत मुनि-वृन्द का सहवास होगा।  
 पिता की घोर देखो, धर्म पालो,  
 अरे, सूँझत हुए फिर वे, सँभालो।"

किया उपचार दोनों ने पिता का ,  
 उन्हें चैतन्य था चढ़ना चिता का ।  
 खड़ी थी केकयी, पर चित्त चल था ;—  
 "कहा जो राम ने सच था कि छल था ?"

सँभलकर कुछ किसी बिध भूप बोले—  
 विकल सौमित्रि से . इस भाँति बोले—  
 "कहो फिर वत्स ! जो पहले कहा था ,  
 वही गजेंन मुझे सुख दे रहा था ।  
 नहीं हूँ मैं पिता सचमुच तुम्हारा ,  
 ( यही है क्या पिता की प्रीति धारा ? )  
 तदपि सत्पुत्र हो तुम शूर मेरे ,  
 करो सब दुःख लक्ष्मण दूर मेरे ।  
 मुझे वन्दी बनाकर वीरता से ,  
 करो अभिषेक-साधन धीरता से ।  
 स्वयं निःस्वार्थ हो तुम, नीति रक्खो ,  
 न होगा दोष कुछ, कुल-रीति रक्खो ।  
 भरत था आप ही राज्याधिकारी  
 हुआ पर राज्य से भी राम भा

उसीसे हा ! न वचित यो भरत हो ,  
 भले ही वाम वामा लोभरत हो ।  
 सुनो, हे राम ! तुम भी धर्म धारो ,  
 पिता को मृत्यु के मुहँ से उवारो ।  
 न मानो आज तुम आदेश मेरा ,  
 प्रबल उससे नही क्या क्लेश मेरा ?”

भरत की माँ डरी सुन भूप-वाणी ,  
 कही वह राम-लक्ष्मण ने प्रमाणी ।  
 पतित क्या उन्नतो के भाव जाने ?  
 उन्हे वे आप ही मे क्यो न सानें ।

कहा प्रभु ने—“पिता ! हा ! मोह इतना !  
 विचारो किन्तु होगा द्रोह कितना ?  
 तुम्हारा पुत्र मैं आज्ञा तुम्हारी—  
 न मानूँ, तो कहे क्या सृष्टि सारी ?  
 प्रकट होगा कपट ही हाथ ! इससे ,  
 न माँ के साथ होगा न्याय इससे ।  
 मिटेगी वश-मर्यादा हमारी ,  
 वनैगे हम अगौरव - मार्गचारी ।

{ कहाँ है हा ! तुम्हारा धैर्य वह सब ?  
 ✓ { कि कौशिक-सग भेजा था मुझे जब ।  
 लडकपन भूल लक्ष्मण काः-मदय हो ,  
 हमारा वंश नूतन कीर्तिमय हो ,  
 क्षमा तुम भी करो सौमित्र को माँ !  
 न रक्खो चित्त में उस चित्र को माँ !  
 विरत तुम भी न हो अब और भाई !  
 अरे, फिर तात ने संज्ञा गँवाई !  
 रहूँगा मैं यहाँ अब और जब तक—  
 वढेगा मोह इनका और तब तक ।  
 कस्ँ प्रस्थान इनसे शीघ्र ही अब ,  
 इन्हें दें सान्त्वना मिलकर स्वजन सब । ”  
 प्रणति-मिस निज मुकुट-सर्वस्व देकर ,  
 चले प्रभु तात की पद-धूलि लेकर ।  
 चले उनके अनुज भी अनुसरण कर ,  
 सभीको छोड़, सेवा को वरण कर !

कहा प्रभु ने कि—“भाई ! बात मानो ,  
 पिता को श्रौर देवो, हठ न ठानो । ”

कहा सौमित्रि ने कर जोडकर तब—  
 “रहा यह दास तुमको छोडकर कब ?  
 रहे क्या आज जाता देख वन को ?  
 करोदोपी न इतना नाथ ! जन को ।  
 तुम्ही माता पिता हो और भ्राता ,  
 तुम्ही सर्वस्व मेरे हो विधाता ।  
 रहूँगा मैं, कहोगे तो रहूँगा ,  
 नरक की यातना को भी सहूँगा ।  
 विनश्वर जोव होता तो न सहता ,  
 तदपि क्या रह सकेगा देह दहता ?  
 कला, क्रीडा, कुतुक, मृगयाऽभिनय मे ,  
 सभा-सलाप, निर्णय और नय मे ,  
 जिसे है साथ रक्खा नाथ ! तुमने ,  
 उसीसे आज खीचा हाथ तुमने !  
 यहाँ मेरे विना क्या रुक रहेगा ?  
 न अपना भार भी यह तन सहेगा ।  
 तुम्ही हो एक अन्तर्वाह्य मेरे ,  
 नही नया फूल-फल भी ग्राह्य मेरे !  
 न रक्खो आज ही यदि साथ मुझको ,  
 चले जाओ हटाकर नाथ ! मझको ।



न रोकूंगा, रहूंगा जो जियूंगा ,  
 अमृत जब है पिया, विष भी पियूंगा ।”  
 हुए गद्गद यही रघुनन्दनानुज ,  
 शिशिर-कण-पूर्ण मानो प्रातरम्बुज ,  
 खड़े थे सूर्य-कुल के सूर्य सम्मुख ,  
 न जानें देव समझे दुःख या सुख ?  
 अनुज को देख सम्मुख दीन रोते ,  
 दयामय क्या द्रवित अब भी न होते ?  
 “अहो ! कातर न हो, सौमित्रि ! आओ ,  
 मदा निज राम का अर्द्धांश पाओ ।  
 यही है आज का-सा यह सबेरा ,  
 मिटा राजत्व बन में भी न मेरा !  
 अनुज ! मुझसे न तुम न्यारे कभी हो ,  
 सुहृत्, सहचर, सचिव, सेवक सभी हो ।”  
 वचे सौमित्रि मानो प्राण पाकर ,  
 वची त्यों केकयी भी त्राण पाकर ।

निकलकर अग्रजानुज तब वहाँ से ,  
 चले, पर शब्द यह कैसा, कहाँ से ।  
 “मुझे इस मृत्यु-मुख मे छोड़कर यो ,  
 चले हा पुत्र ! तुम मुहँ मोड़कर, क्यों ?”  
 कहा प्रभु ने कि—“भाई ! क्या करूँ मैं ?  
 पिता का शोक यह कैसे हूँ मैं ?  
 हुआ है धैर्य सहसा नष्ट उनका ,  
 चलो, कातर न कर दे कष्ट उनका ।”  
 वढाकर चाल अपनी और थोड़ी ,  
 उन्होंने एक लम्बी साँस छोड़ी ।  
 न थी अपने लिए वह साँस निकली ,  
 फँसाती जो यहाँ यह फाँस निकली ।  
 चले दोनों अलौकिक शान्तिपूर्वक—  
 कि आये थे यथा विश्रान्तिपूर्वक !  
 अजिर-सर के बने युग हस थे वे ,  
 म्वय रवि-वश के अवतस थे वे ।  
 भुकाकर सिरप्रथम फिर टक लगाकर ,  
 निरखते पार्श्व से थे मृत्यु आकर ।  
 यही होकर अभी यद्यपि गये थे ,  
 तदपि वे दोखते सबको नये थे !

लगे माँ के महल को घूमने जब—  
 “जियो, कल्याण हो” यह सुन पडा तब ।  
 सुमन्नागम समझकर रुक गये वे,  
 “अहा ! काका,” विनय से झुक गये वे ।  
 सचिववर ने कहा—“भैया ! कहाँ थे ?”  
 बताया राम ने उनको, जहाँ थे ।  
 कहा फिर—“तात आतुर हो रहे हैं,  
 मिलो तुम शीघ्र, धीरज खो रहे हैं ।”  
 हुई मुनकर सचिववर को विकलता,  
 रहा “क्यों ?” भी निकलता ही निकलता ।  
 अमगल पूछना भी कष्टमय है,  
 न जानें क्या न हो, अस्पष्ट भय है ।  
 न थो गति किन्तु बोले वे—“हुआ क्या ?  
 हमे भी अब विकारो ने छुआ क्या ?  
 मुझे भी हो रहा था सोच मन मे,  
 अभी तक आज नृप क्यों है शयन मे ।  
 बुलाऊँ वैद्य या मैं देख आऊँ,  
 सभागत सम्भरण को क्या बताऊँ ?  
 कुशल हो, विघ्न होते गूटनर यो,  
 इधर तुम जा रहे हो लौटकर क्यों ?”

कहाँ सौमित्रि ने—“हे तात सुनिए ,  
 उचित-अनुचित हृदय मे आप गुनिए ।  
 कि मभली माँ हमे वन भेजती हैं ,  
 भरत के अर्थ राज्य सहेजती है ।”  
 निरखकर सामने ज्यो साँप भारी ,  
 सहम जावे अचानक मार्गचारी ।  
 सचिवघर रह गये त्यो भ्रान्त होकर ,  
 स्का नि श्वास भी क्या श्रान्त होकर !  
 संभलकर अन्त मे इस भाँति बोले—  
 कि “आये खेत पर ही दैव, ओले !  
 कहाँ से यह कुमति की वायु आई ,  
 किनारे नाव जिससे डगमगाई ।  
 भरत दशरथ पिता के पुत्र होकर—  
 न लेंगे, फेर देंगे राज्य रोकर ।  
 विना समझे भरत का भाव सारा ,  
 विपिन का व्यर्थ है प्रस्ताव सारा ।  
 न जाने दैव को स्वीकार क्या है ?  
 रहो, देखूँ कि यह व्यापार क्या है ?  
 न रोवूँगा तुम्हे मैं धर्म-पथ से ,  
 तदपि इति तक समझ लूँ मर्म-अर्थ से ।”

उत्तर की अनपेक्षा करके आँसू रोक सुमन्त्र ,  
 चले भूप की ओर वेग से, घूमा अन्तर्यन्त्र ।  
 “अरे !” मान कहकर ही उनको रहे देखते राम ,  
 और राम को रहे देखते लक्ष्मण लोक ललाम ।

चले फिर रघुवर माँ से मिलने ,  
 बढाया घन-सा प्राणानिल ने ।  
 / चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे—  
 / भाद्र के पीछे आश्विन जैसे ।

## चतुर्थ सर्ग

कम्पणा - कजागण्य - ग्वे ।  
गुण - रत्नावर, आदि-ववे ।  
रविता-वित । कृपा वर दो ,  
भाव - गति मुमगे भर दो ।  
चटार मजु - मनोरथ मे ,  
आरर ग्म्य राज - पथ मे ,  
दगेन वरं तपोवन वा ,  
यही ऽष्ट है इत जन वा ।

सुख से सद्यः स्नान किये ,  
 पीताम्बर परिधान किये ,  
 पवित्रता में पगी हुई ,  
 देवार्चन में लंगी हुई ,  
 मूर्तिमयी ममता - माया ,  
 कौसल्या कोमलकाया ,  
 थी अतिशय आनन्दयुता ,  
 पास खड़ी थी जनकसुता ।  
 गोट जड़ाऊ घूँघट की—  
 विजली जलदोपम पट की,—  
 परिधि बनी थी विधु-मुख की ,  
 सीमा थी सुषमा-सुख की ।  
 भाव-सुरभि का सदन अहा !  
 अमल कमल-सा वदन अहा !  
 अधर छवीले छदन अहा !  
 कुन्द - कली - से रदन अहा !  
 साँप खिलाती थी अलके ,  
 मधुप पालतो थी पलकें ;  
 और कपोलों की झलकें ,  
 उठती थी छवि की छलकें !

गोल गोल गोरो वाहे—  
 दो आँखों की दो राहे ।  
 भाग सुहाग पक्ष में थे ,  
 अचलबद्ध कक्ष में थे ।  
 थी कमला - सी कल्याणी ,  
 वाराणी में वीणापाणी ।  
 'माँ ! क्या लाऊँ ?' कह कहकर—  
 पूछ रही थी रह रहकर ।  
 सास चाहती थी जब जो,—  
 देती थी उनको सब सो ।  
 कभी आरती, घूप कभी ,  
 सजती थी उपकरण सभी ।  
 देख देख उनकी ममता ,  
 करती थी उसकी समता ।  
 आज अतुल उत्साह - भरे ,  
 थे दोनों के हृदय हरे ।  
 दोनों शोभित थी ऐसी—  
 मेना और उमा जैसी ।  
 मानो वह भू-लोक न था ,  
 वहाँ दुःख वा शोक न था ।



प्राणप्रद था पवन वहाँ ,  
 ऐसा पुण्यस्थान कहाँ ?  
 अमृत-तीर्थ का तट-सा था ,  
 अन्तर्जगत् प्रकट - सा था !

इसी समय प्रभु अनुज-सहित—  
 पहुँचे वहाँ विकार-रहित ।  
 जब तक जाय प्रणाम किया ,  
 माँ ने आशीर्वाद दिया ।  
 हँस सीता कुछ सकुचाई ,  
 आँखें तिरछी हो आई ।  
 लज्जा ने घूँघट काढ़ा—  
 मुख का रंग किया गाढ़ा ।  
 “बहू ! तनिक अक्षत-रोली ,  
 तिलक लगा दूँ” माँ बोली—  
 “जियो, जियो, वेटा ! आओ ,  
 पूजा का प्रसाद पाओ ।”

लक्ष्मण ने सोचा मन में—  
 “जाने देगी ये वन में ?

प्रभु इनको भी छोड़ेंगे ,  
तो किस धन को जोड़ेंगे ?  
मझली माँ ! तू मगी न क्यो ,  
लोक लाज से डरी न क्यो ?"  
लक्ष्मण ने निश्वास लिया ,  
माँ के जान सु-वासः लिया ।



बोले तब श्रीराघव यो—  
धर्मधीर नवधन-रव ज्यो—  
। "माँ ! मैं आज कृतार्थ हुआ ,  
। स्वार्थ स्वय परमार्थ हुआ ।  
पावनकारक जीवन का ,  
मुझको वास मिला वन का ।  
जाता हूँ मैं अभी वहाँ ,  
राज्य करेंगे भरत यहाँ ।"  
माँ को प्रत्यय भी न हुआ ,  
इसलिए भय भी न हुआ ।  
समझी सीता किन्तु सभी ,  
भूठ कहेंगे प्रभु न कभी ।

खिंची हृदय पर भय-रेखा ,  
 पर माँ ने न उधर देखा ।  
 बोली वे हँसकर—“रह तू ,  
 यह न हँसी मे भी वह तू ।  
 तेरा स्वत्व भरत लेगा ?  
 वन मे तुझे भेज देगा ?  
 वही भरत जो आता है ,  
 क्या तू मुझे डराता है ?”  
 लक्ष्मण ! यह दादा तेरा ,—  
 धैर्य देखता है मेरा ।  
 ऐं ! लक्ष्मण तो रोता है ।  
 ईश्वर यह क्या होता है !”

उनका हृदय सशक हुआ ,  
 उदित अशुभ आतक हुआ ।  
 “सच है तब क्या वे बातें ?  
 देव ! देव ! ऐसी घातें !”  
 काँप उठी वे मृदुदेहो ,  
 घरती धूमि या वे ही ।

वैठी फिर गिरकर मानो ,  
 जकड़ गई घिरकर मानो ,  
 आँखें भरी, भुवन रीता ,  
 उलट गया सब मनचोता !  
 सीता से थामो जाकर—  
 रही देखती टक लाकर ।

प्रभु बोले—“माँ ! भय न करो ,  
 एक अवधि तक धैर्य धरो ।  
 मैं फिर घर आजाऊँगा ,  
 वन में भी सुख पाऊँगा ।”  
 “हा ! तब क्या निष्कासन है ?  
 यह कैसा वन-शासन है ?  
 तू सबका जीवन-धन है ,  
 किसका यह निर्दयपन है ?  
 क्या तुझसे कुछ दोष हुआ ?  
 जो तुझपर यह रोष हुआ ।  
 अभी प्रार्थिनी मैं हूँगी ,  
 प्रभु से क्षमा माँग लूँगी ।

क्या प्रथमापराध तेरा ,  
 और विनीत विनय मेरा ,  
 क्षमा दिलावेगा न तुझे ?  
 वत्स ! हुआ क्या, बता मुझे ।  
 अथवा तू चुप ही रह जा ,  
 बेटा लक्ष्मण ! तू कह जा ।  
 कठिन हृदय प्रस्तुत हो है ,  
 डर न, दण्ड तो श्रुत ही है ।"  
 "माँ ! यह कोई बात नहीं ,  
 दोषो मेरे तात नहीं ।  
 दोष - दूरकारक हैं ये ,  
 सब सद्गुण-धारक हैं ये ।  
 छू सकता कब पाप इन्हें ?  
 प्राप्त पुण्य है आप इन्हे ।  
 प्राप्य राज्य भी छोड़ दिया ,  
 किमने ऐसा त्याग किया ?  
 किन्तु पिता-भरण रखने को ,  
 सबको छोड़ बितखने को ,  
 कर मँझली माँ के मन का ,  
 पथ लेते हैं ये वन का !"

“समझ गई, मैं समझ गई,  
 कैकेयी की नीति नई।  
 मुझे राज्य का खेद नहीं,  
 राम-भरत में भेद नहीं।  
 मँझली वहन राज्य लेवें,  
 उसे भरत को दे देवें।  
 पुत्रस्नेह धन्य उनका,  
 हठ है हृदय-जन्य उनका।  
 मुझे राज्य की चाह नहीं,  
 उसपर कुछ भी डाह नहीं।  
 मेरा राम न वन जावे,  
 यही कही रहने पावे।  
 उनके पैर पडूँगी मैं,  
 कहकर यही अडूँगी मैं—  
 भरत-राज्य की जड न हिले,  
 मुझे राम की भीख मिले !”

“नहीं, नहीं, यह कभी नहीं;  
 दैन्य विषय वस रहे यही।”

रुके राम-जननी जब तक,  
 गूँजी नई गिरा तब तक,  
 चकित दृष्टियाँ व्याप्त हुई,  
 वहाँ सुमित्रा प्राप्त हुई,  
 वधू ऊर्मिला अनुपद थी,  
 देख गिरा भी गद्गद् थी।  
 देख सुमित्रा को आया,  
 प्रभु ने सानुज सिर नाया।  
 बोली वे कि—“जियो दोनो,  
 यरा का अमृत पियो दोनो।”  
 सिंही-सदृश क्षत्रियाणी,  
 गरजी फिर कह यह वाणी—  
 “स्वत्वो की भिक्षा कैसी ?  
 दूर रहे इच्छा ऐसी।  
 उर मे अपना रक्त बहे,  
 आर्य-भाव उद्गीत रहे।  
 पाकर वशोचित शिक्षा—  
 माँगेंगी हम क्यों भिक्षा ?  
 प्राप्य याचना-वर्जित है,  
 आप भुजो से अर्जित है।

हम पर-भाग नहीं लेंगी ,  
 अपना त्याग नहीं देगी ।  
 वीर न अपना देते हैं ,  
 न वे श्री का लेते हैं ।  
 वीरो की जननी हम हैं ,  
 भिक्षा-मृत्यु हमें सम हैं ।  
 राघव ! शान्त रहोगे तुम ?  
 क्या अन्याय सहोगे तुम ?  
 मैं न सहूँगी, लक्ष्मण ! तू ?  
 नीरव क्यों है इस क्षण तू ?”  
 “माँ क्या करूँ ? कहो मुझसे ,  
 क्या है कि जो न हो मुझसे ,  
 अर्गोकार आर्य करते ,  
 तो कबके द्रोही भरते !  
 आज्ञा करें आर्य अब भी ,  
 बिगडा वने कार्य अब भी ।”  
 लक्ष्मण ने प्रभु को देखा ,  
 न थी उधर कोई रेखा !  
 बोले वे कि—“रहो आतः !  
 और सुनो तुम हे मातः !”



यदि न आज वन जाऊँ मैं ,  
 किसपर हाथ उठाऊँ मैं ?—  
 पूज्य पिता या माता पर ?  
 या कि भरत-से भ्राता पर ?  
 और किसलिए ? राज्य मिले ?  
 है जो तृण-सा त्याज्य, मिले ?  
 माँ की स्पृहा, पिता का प्रण ,  
 नष्ट करूँ, करके सब्रण ?  
 प्राप्त परम गौरव छोड़ूँ ?  
 धर्म बेचकर धन जोड़ूँ ?  
 अम्ब ! क्या करूँ, तुम्ही कहो ?  
 सहसा अधिक अधीर न हो ।  
 त्याग प्राप्त का ही होता ,  
 मैं अधिकार नहीं खोता ।  
 अवल तुम्हारा राम नहीं ,  
 विधि भी उसपर वाम नहीं ।  
 वृथा क्षोभ का काम नहीं ,  
 धर्म बड़ा , धन-धाम नहीं ।  
 किसने क्या अन्याय किया ,  
 ... .. ?

माँ ने पुत्र - वृद्धि चाही ,  
 नृप ने सत्य - सिद्धि चाही ।  
 ममत्वी माँ पर कोप करें ?  
 पुत्र - धर्म का लोप करें ?  
 तो किससे डर माना है ?  
 तुमपर भो कर सकना है !  
 ' भैया भरत अयोग्य नहीं ,  
 राज्य गम का भोग्य नहीं ।  
 फिर भी वह अपना ही है ,  
 यो तो सब सपना ही है ।  
 मुझको महा महत्त्व मिला ,  
 स्वयं त्याग का तत्व मिला ,  
 माँ ! तुम तनिक कृपा कर दो ,  
 बना रहे वह, यह वर दो !"  
 मीन हुए रघुबुल - भूषण ,  
 मानो प्रभा - पूर्ण पूषण ।  
 कहाँ गई वह क्षोभ-घटा ?  
 छाई एक अपूर्व छटा !  
 सबका हृदय - द्राव हुआ ,  
 रोम रोम से स्राव हुआ !

मोती जैसे बड़े बड़े,—  
टप टप आँसू टपक पड़े ।

सीता ने सोचा मन मे—  
'स्वर्ग बनेगा अब वन मे,  
धर्मचारिणी हूँगी मैं,  
वन-विहारिणी हूँगी मैं ।'  
तनिक बनोखी आँखियो से,  
अजब अनोखी आँखियो से,  
प्रभु ने उधर दृष्टि डाली,  
दोख पड़ी दृढ़ हृदयाली ।  
सग-गमन-हित, सीता के,  
प्रस्तुत परम पुनीता के,  
उच्चव्रत पर अड़े हुए,  
रोम रोम थे खड़े हुए ।

उठी न लक्ष्मण की आँखे,  
जकड़ी रही पलक - पाँखें ।  
किन्तु कल्पना घटी नहीं,  
उदित ऊर्मिला हटी नहीं ।

खड़ी हुई हृदयस्थल में—  
 पूछ रही थी पल पल में—  
 'मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ?  
 हाय ! और क्या आज कहूँ ?'  
 आः ! कितना सकरुण मुख था ,  
 आर्द्र - सरोज - अरुण मुख था ।  
 लक्ष्मण ने सोचा कि—“अहो ,  
 कैसे कहूँ चलो कि रहो !  
 यदि तुम भी प्रस्तुत होगी—  
 तो सकोच—सोच दोगी ।  
 प्रभुवर बाधा पावेंगे ,  
 छोड़ मुझे भी जावेंगे !  
 नहीं, नहीं, यह बात न हो ,  
 रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो ।  
 यह भी मेरे लिए सहो ,  
 और अधिक क्या कहूँ, कहो ?”  
 लक्ष्मण हुए वियोगजयी ,  
 और ऊर्मिला प्रेममयी ?  
 वह भी सब कुछ जान गई ,  
 विवश भाव से मान गई ।

श्रीसीता के कन्धे पर—  
 आँसू वरस पड़े भर भर ।  
 पहन तरल-तर हीरे-से,  
 कहा उन्होंने धीरे से—  
 “वहन ! धैर्य का अवसर है,”  
 वह बोली—“अब ईश्वर है ।”  
 सोता बोली कि—“हाँ, वहन,  
 सभी कही, गृह हो कि गहन ।”

कौसल्या क्या करती थी ?  
 कुछ कुछ धीरज धरती थी ।  
 प्रभु की वाणी कट न सकी,  
 युक्ति एक भी अट न सकी !  
 प्रथम सुमित्रा भ्रान्त हुई,  
 फिर क्रम क्रम से शान्त हुई ।  
 खड़ी रही, न हिली डोली,  
 तब कौसल्या ही बोली—  
 “जाओ, तब बेटा ! वन ही,  
 पाओ नित्य धर्म-धन ही ।

जो गौरव लेकर जाओ ,  
 लेकर वही लौट आओ ।  
 पूज्य-पिता-प्रण रक्षित हो ,  
 माँ का लक्ष्य सुरक्षित हो ।  
 घर मे घर की शान्ति रहे ,  
 कुल में कुल की कान्ति रहे ।  
 होते मेरे सुकृत कही ,  
 तो क्यो आती विपद यही !  
 फिर भी हो तो त्राण करे ,  
 देव सदा कल्याण करें ।  
 और कहूँ क्या मैं तुमसे—  
 वन में भी विकसो द्रुम-से ।  
 फिर भी है इतना कहना—  
 मुनियों के समीप रहना !  
 जिसे गोद में पाला है ,  
 जो उर का उजियाला है ,  
 वहन सुमित्रे ! चला वही,—  
 जहाँ हिम्न-पशु-पूर्ण मही !  
 यह गौरव का अर्जन है ,  
 या सर्वस्व - विसर्जन है ?

त्याग मात्र इसका धन है,  
पर मेरा माँ का मन है।  
हा ! मैं कैसे धैर्य धरूँ ?  
क्या चिन्ता से दग्ध रहूँ ?  
यदि मैं मर भी जाऊँगी,  
तो भी शान्ति न पाऊँगी !”  
कहा 'सुमित्रा ने तब यों—  
“जीजी ! विकल न हो अब यो !

आशा हमें जिलावेगी,  
अवधि अवश्य मिलावेगी।”  
राघव से बोली फिर वे—  
थी उस समय अनस्थिर वे।  
“वत्स राम ! ऐसा ही हो,  
फल इसका कैसा ही हो।  
लेकर उच्च हृदय इतना,  
नही हिमालय भी जितना,  
तुमने मानव - जन्म लिया,  
घरणी-तल को धन्य किया !  
मैं भी कहती हूँ—जाओ,  
लक्ष्मण को भी अपनाओ।

धैर्य सहित सब कुछ सहना ,  
 दोनों सिंह-सदृश रहना ।  
 लक्ष्मण ! तू बड़भागी है ,  
 जो अग्रज-अनुरागी है ।  
 मन ये हों, तन तू वन में ,  
 धन ये हों, जन तू वन में ।”  
 लक्ष्मण का तन पुलक उठा ,  
 मन मानो कुछ कुलक उठा ।  
 माँ का भी आदेश मिला ,  
 पर वह किसका हृदय हिला ?

कहा ऊर्मिला ने—“हे मन !  
 तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन ।  
 आज स्वार्थ है त्याग-भरा !  
 हो अनुराग विराग भरा !  
 तू विकार से पूर्ण न हो ,  
 शोक-भार से चूर्ण न हो ।  
 आतृ - स्नेह - सुधा बरसे ,  
 भू पर स्वर्ग भाव सरसे !”



प्रस्तुत हैं प्राणस्नेही ,  
 चुप थी अब भी बँदेही ।  
 कहती क्या वे प्रिय जाया ,  
 जहाँ प्रकाश वही छाया ।

इसी समय दुख से द्याये ,  
 ! सचिव सुमन्त्र वहाँ आये ।  
 वे — परिवार-भुक्त-से थे ,  
 अति अविभिन्न युक्त-से थे ।  
 प्रभु जो उनकी ओर बढे ,  
 प्रथम अथ, फिर वचन बढे—  
 “राम ! क्या कहूँ मैं अब हा !  
 बनकर भी बिगडा सब हा !  
 देख तुम्हारा निष्कासन ,  
 कैकेयी-मृत का शासन ,  
 नहीं चाहती कभी प्रजा ,  
 उड़ी क्रान्ति की वही ध्वजा ?  
 विदित तुम्हे है नृप-गति भी ,  
 कैकेयी की दुर्मति भी ।

ऐसी विपमावस्था है ,  
 फिर भी वन-व्यवस्था है ?  
 पितृ-स्पृहा क्या ज्ञेय नहीं ?  
 प्रजा-भाव क्या ध्येय नहीं ?”  
 प्रभु बोले—“यह बात नहीं ,  
 तात ! तुम्हे क्या ज्ञात नहीं ?  
 स्पृहा बड़ी या धर्म बड़ा ?  
 किसमे है शुभ कर्म बड़ा ?  
 और प्रजा मे द्रोह कहाँ ?  
 है बस मेरा मोह वहाँ ।  
 मैंने क्या कर दिया किसे ;  
 कर न सकेंगे भरत जिसे ?  
 उनके निन्दा वाक्य मुझे ,  
 होंगे विष के वाण बुझे ।  
 उनकी निन्दा मेरी है ,  
 प्रजा प्रीति की प्रेरी है ।  
 पर वे मेरे आता है ,  
 मंझली माँ ‘भो माता है ।’”  
 अब सुमन्त्र कुछ कह न सके ,  
 पर नीरव भो रह न सके !

सहे रहे वे मुहें सोने ,  
 फिर धीरे धीरे धोले—  
 "नही जानता मैं गोऊं ,  
 या आनन्द-मग्न होऊं ,  
 राम ! तुम्हारा मगल हो ,  
 प्राप्त हमें आत्मिक बल हो ,  
 तुम भूतल से भिन्न नहीं ,  
 हम सबमे विच्छिन्न नहीं ।  
 उर से सिन्तु अलौकिक हो ,  
 निज पतंग-कुल के पिव हो !  
 अन्न करण अपायित है ,  
 उदित वहाँ दिव ही दिव है !  
 अमरवृन्द नीचे आवें ,  
 मानव-चरित देख जावें ।  
 वन में ही यदि रहना है ,  
 तो नृप का यह बहना है—  
 'तुम गुमन्त्र रथ से आओ ,  
 पुत्रों को पहुँचा आओ ।  
 भरत यहाँ आवें जब लो ,  
 बचा रहा यदि मैं तब लो—

तो मैं उन्हें राज्य दूँगा,  
वन में स्वयं प्राप्त हूँगा । ”

सबने ऊर्ध्वश्वास लिया,  
या उर को आश्वास दिया ।  
प्रभु बोले—“तो देर न हो,  
रथ जुतने के लिए कहो ।  
अब बल्कल पहनूँ वस मैं,  
वनूँ वनोचित तापस मैं ।  
यही रजोगुण-लेश रहे,  
वन में सात्विक वेश रहे । ”

रोने हुए सुमन्त्र गये,  
आये बल्कल वस्त्र नये ।  
( बड़े प्रथम कर कोमल दो,  
या मृणालयुत शतदल दो ।  
सीता चुप, सब रोती थी,  
हृत्-जल से मुहँ धोती थी ।  
“वहूँ ! वहूँ ! ” माँ चिल्लाई,  
आँखें दूनी भर आई—

"हाथ हटा, ये बल्लल हैं,  
 मृदुतम तेरे करतल हैं।  
 यदि ये छू भी जावेंगे—  
 तो छाले पड आवेंगे।  
 कोमल - बधू ! विदेह लली !  
 मुझे छाड़कर वहाँ चली ?  
 वन की काँटो भरी गली,  
 तू है मानस कुसुम-बली।  
 देव ! हुआ तू वाम मिसे ?  
 रोना, रोना राम ! इसे !  
 क्या यह वन में रह लेगी ?  
 तप-उपाहिम सह लेगी ?  
 सौ कष्टो की क्या रहे,  
 वन की सारी व्यथा रहे,  
 जय आंधी - सो आवेगी—  
 यह सहसा उड जावेगी।"

आ पड़ता जय सोच कही—  
 रहता तब समोच नहीं।

प्रभु ने जो निदेश पाया ,  
 प्राणसखी को समझाया ।  
 वन के सारे कष्ट कहे ,  
 जो जो भय थे स्पष्ट कहे ।  
 जिनको सुनकर मुहं सूखे ,  
 देह दुख पाकर दूखे—  
 “आतप, वर्षा, हिम सहना ,  
 वाघ - भालुओं में रहना ,  
 अबलाओं का काम नहीं ,  
 वन में जन का नाम नहीं ।  
 खान - पान सब कुछ खोना ,  
 निशि में भी दुर्लभ सोना ।  
 बही नहीं, वनचर होना ,  
 रोने से भी मुहं धोना !”

किन्तु वृथा, सीता बोली ,  
 डर से नेक नहीं डोली—  
 “नाथ ! न कुछ होगा इससे ,  
 क्या कहते हो तुम किससे ?

समझो मुझसे! भिन्न न हा !  
 करो ऐक्य उच्छिन्न न हा !  
 तुमको दुख तो मुझको भी ,  
 तुमको सुख तो मुझको भी ।  
 सुख मे आ आवर घेऊँ ,  
 सकट मे अब मुहं फेऊँ ।  
 देखेगा तो कौन उसे ?  
 मरना होगा मौन उसे ।  
 जा गौरव लेकर स्वामी ।  
 होते हो काननगामी ,  
 उनमे अर्द्ध भाग मेरा ,  
 करो न आज त्याग मेरा ।  
 मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी ,  
 मुझ अर्द्धांगी बिना अभी—  
 हैं अर्द्धांग अछूरे हो ,  
 सिद्ध करो तो पूरे हा ।  
 सबके हित में वन मे भी ,  
 निर्जन, सघन गहन मे भी ।  
 सब व्रत - नियम निवाहूँगी ,  
 सबका मंगल चाहूँगी ।

सास ससुर की स्नेहलता—

वहन ऊर्मिला महाव्रता ,

सिद्ध करेगी वही यहाँ ,

जो मैं भी कर सकी कहाँ ?

वन मे क्या भय ही भय है ?

मुझको तो जय ही जय है ।

यदि अपना आत्मिक-बल है ,

जगल मे भी मगल है ।

कण्टक जहाँ कुसुम भी है ,

छाया वाले द्रुम भी है ।

निर्भर है, दुर्वा-दल है ,

मीठे कन्द, मूल, फल है ।

रहते है मिष्टान्न पडे ,

लगते हैं फल मधुर बडे ।

बधुएं लघन से डरती—

तो उपवास नही करती ।

मुक्त गगन है, मुक्त पवन ,

वन है प्रभु का खुला भवन ।

सलिल-पूर्ण सरिताएं है ,

करुण-भाव-भरिताएं हैं ।



उटज लताओं से छाया ,  
 विटपों की ममता-माया ।  
 खग-मृग भी हिल जावेंगे ,  
 सभी मेल मिल जावेंगे ।  
 देवर · एक धनुर्धारी—  
 होंगे सब सुविधाकारी ।  
 वे दिन-रात साथ देंगे ,  
 मेरी रक्षा कर लेंगे ।  
 मदकल कोकिल गावेंगे ,  
 मेघ मृदंग बजावेंगे ।  
 नाचेंगे मयूर मानी ,  
 मैं हूँगी वन की रानी !  
 हिंस्र जीव हैं घोर जहाँ ,  
 ऋषि-मुनि भी क्या नहीं वहाँ ?  
 यहाँ नहीं जो शान्ति वही ,  
 भव-विकार या भ्रान्ति नहीं ।  
 अचल होगा फूल-भरा ,  
 कल-जल होगा कूल-भरा ।  
 मन होगा दुख-भूल-भरा ,  
 वन होगा सुख-मूल - भरा ।

अथवा पुछ भी न हो रही ,  
 तुम तो हो जा रही यही ।  
 मेरी यही महामति है—  
 पति हो पत्नी की गति है ।  
 नाथ ! न भय दो तुम हमरो ,  
 जीत चुको हैं हम यम का ।  
 सतिया को पति-भाग नहीं—  
 अगम गहन क्या दहन नहीं ।”

सीता श्रीर न बाल सती ,  
 गद्गद कण्ठ न सोल मकी ।  
 इधर ऊमिला मुग्ध निरी—  
 कहकर ' हाय ! ' घडाम गिरी ।

लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये ,  
 सवने दो दा बूँद दिये ।  
 कहा भुमिना ने—' बेटो !  
 आज मही पर तू लेटी ।”  
 “वहन ! वहन !” कहकर भीता ,  
 करने लगी व्यजन सीता ।

“आज ! भाग्य जो है मेरा ,  
 वह भी हुआ न हा ! तेरा ।”  
 माताएँ थी मूर्ति वनी ;  
 व्यग्र हुए प्रभु धर्म - धनी ।  
 युग भी कम थे उस क्षण से ,  
 बोले वे यो लक्ष्मण से—  
 “अनुज, मार्ग मेरा लेकर ,  
 सग अनावश्यक देकर ,  
 सोचो अब भी तुम इतना—  
 भग कर रहे हो कितना ?  
 हठ करके प्यारे भाई ,  
 करो न मुझको अन्यायी ।”  
 “हाय ! आर्यं, रहिए, रहिए ,  
 मत कहिए, यह मत कहिए ।  
 हम सकट को देख डरें ,  
 या उसका उपहास करें ?  
 पाप-रहित सन्ताप जहाँ ,  
 आत्म-शुद्धि ही आप वहाँ ।”  
 “लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही ,  
 मैं वन मे भी रहा गृही ।

वनवासी, हे निर्मोही,  
हुए वस्तुतः तुम दो ही।”  
कहा सुमित्रा ने तब यो—  
“निश्चय पर वितर्क अब क्यों ?  
जैसे रह, रहेगी हम,  
रोकर सही, सहेंगी हम।”

उस मूर्च्छिता वधू का सिर,  
गोदी में रखे अस्थिर,  
कौसल्या माता भोली,  
धाड़ मारकर यो मोली—  
“देव - वृन्द ! देखो नीचे,  
मत मारो आँखें मोचे।  
जाओ, वत्स ! कहा मैंने,  
जो आ पड़ा सहा मैंने।

जो जो सक्ती—और जीने की चेष्टा किया करूँगी,  
चौदह वर्ष बीतने पर तो मानो फिर न मरूँगी।  
देख उस समय तुम तीनों को छटा बरस घलूँगी,  
मानो तीन लोक के धन से अपना भाग्य भरूँगी।

पक्ष सिद्ध हो ,  
 लक्ष्मि-विद्ध हो ,  
 राम ! नाम हो तेरा ,  
 धर्म-वृद्धि हो ,  
 मर्म-ऋद्धि हो ,  
 सब तेरे, तू मेरा ।”

प्रस्थान,—वन की ओर ,  
 या लोक-मन की ओर ?  
 होकर न धन की ओर ,  
 हैं राम जन की ओर ।

## पंचम सर्ग

। वनदेवोगण, आज कौन - सा पर्व है ,  
जिसपर इतना हर्ष और यह गर्व है ?  
जाना, जाना, आज राम वन आ रहे ,  
इसीलिए सुख - साज सजाये जा रहे ।

तपस्वियों के योग्य वस्तुओं से सजा ,  
फहराये निज भानु - मूर्तिवाली ध्वजा ।  
मुख्य राजरथ देख समागत सामने ,  
गुरु को पुनः प्रणाम किया श्रीराम ने ।

प्रभु - मस्तक से गये जहाँ गुरु-पद छुए,  
 चोटी तक वे हृष्टरोम गद्गद हुए।  
 बोल उठे,—“हम आज सु-गौरव-युत हुए,  
 सुत, तुम बल्कल पहन, शिष्य से सुत हुए।”  
 प्रभु बोले—“वस, यही राम को इष्ट है,  
 क्योंकि पिता के लिए प्रतीत अरिष्ट है।  
 त्रिकालज्ञ है आप, आपकी बात से,  
 हुए भविष्यच्चिह्न मुझे भी ज्ञात-से।  
 जो हो, व्याकुल आज प्रजा - परिवार है,  
 उन सबका अब सभी आप पर भार है।  
 माँ मुझको फिर देख सकें जैसे सही,  
 पितः, पुत्र की प्रथम याचना है यही।”  
 भाव देख उन एक महा व्रतनिष्ठ के,  
 भर आये युग नेत्र वरिष्ठ वसिष्ठ के।  
 कहा उन्होंने—“वत्स, चाहता हूँ सभी—,  
 किन्तु नहीं, कल्याण इसीमें है सभी।  
 देवकार्य हो और उदित आदर्श हो,  
 उचित नहीं फिर मुझे कि क्षोभ स्पर्श हो।  
 मुनि-रक्षक-सम करो विपिन में वास तुम,  
 मेटी तप के- विघ्न और सब यास तुम।

हरो भूभि का भार भाग्य से लभ्य तुम ,  
 करो आर्य-सम वन्यचरो को सभ्य तुम ।”  
 “जो आज्ञा ’ कह रामचन्द्र आगे बढे ,  
 उदयाचल पर सूर्य-तुल्य रथ पर चढे ।  
 रुदित जनो को छोड बैठ उसमे भले ,  
 सीता, लक्ष्मण-सहित राम वन को चले ।  
 प्रजा वर्ग के नेत्र-नीर से पथ सिंचा ,  
 रुकता रुकता महा भीड मे रथ खिंचा ।  
 सूर्योद्भासित कनक-कलश पर केतु था ,  
 वह उत्तर को फहर रहा किस हेतु था ?  
 कहता-सा था दिखा दिखाकर कर-कला ,  
 यह जगम - साकेत - देव - मन्दिर चला ।

सुन कैकेयी - कर्म, जिसे लज्जा हुई ,  
 पाकर मानो ताप गलित भज्जा हुई ।  
 वैदेही को देख वधू - गण वच गया ,  
 कोलाहल युग भावपूर्ण तब मच गया ।  
 उभय ओर थी खडी नगर-नर-नारियाँ ,  
 वरसाती थी साश्रु सुमन सुकुमारियाँ ।



करके जय जयकार राम का, धर्म का ,  
 करती थी अपवाद कैकयी-कर्म का ।  
 “जहाँ हमारे राम, वही हम जायेंगे,  
 वन में ही नव-नगर-निवास बनायेंगे ।  
 ईंटों पर अब करे भरत शासन यहाँ !”  
 जन-समूह ने किया महा कलकल वहाँ ।

“हरकर प्रभु का राज्य कठोरा कैकयी ,  
 प्रजा-प्रोति भी, हरण करे अब यह नई ।”  
 भाभी को यह भाव जताने के लिए ,  
 लक्ष्मण ने निज नेत्र उघर प्रेरित किये ।  
 वैदेही में पुलक भाव था भर रहा ,  
 प्रियगुणानुभव रोम रोम था कर रहा ।  
 कैकयी का स्वार्थ, राम का त्याग था ,  
 परम खेद था और चरम अनुराग था ।  
 राम-भाव अभिप्रेक - समय जैसा रहा ,  
 वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा ।  
 वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वही ,  
 मर्यादा को सदा साक्षिणी है मही ।

पर मेरा यह विरह विशेष विलोककर ,  
 करो न अनुचित कर्म धर्म-पथ रोककर ।  
 होते मेरे ठौर तुम्ही हे आग्रही ,  
 तो क्या तुम भी आज नहीं करते यही ?  
 पालन सहज, सुयोग कठिन है धर्म का ,  
 हुआ अचानक लाभ मुझे सत्कर्म का ।  
 मैं वन जाता नहीं रुठकर गेह से ,  
 अथवा भय, दीर्घल्य तथा निस्नेह से ।  
 तुम्ही कहो, क्या तात-वचन भूठे पड़ें ?  
 असद्वस्तु के लिए परस्पर हम लड़े ।  
 मान लो कि यह राज्य अभी मैं छीन लूँ ,  
 बाँटो मे से सहज कुसुम-सा बीन लूँ ,  
 पर जो निज नृप और पिता का भी न हो ,  
 हो सकता है कभी प्रजा का वह कहो ?  
 ऐसे जन को पिता राज्य देते कही ,—  
 जिसको उसके योग्य मानता मैं नहीं ,  
 तो अधिकारी नहीं, प्रजा के भाव से ,  
 महमत होता स्वयं न उस प्रस्ताव से ।  
 किन्तु भरण के भाव मुझे सब ज्ञात हैं ,  
 हमने वे जडभरत-तुल्य विख्यात हैं ।

भूलोगे तुम मुझे उन्हे पाकर, सुनो,  
 मुझे चुना तो जिसे कहूँ अब मैं, चुनो !  
 जैसा है विश्वास मुझे उनके प्रती—  
 प्रिय उससे भी अधिक न निकलें वे व्रती—  
 तो तुम मुझको दूर न पाओगे कभी,  
 देता हूँ मैं वचन, माँग दे दो अभी ।  
 महाराज स्वर्गीय सगर ने राज्य कर,  
 तजा तुम्हारे लिए पुन भी त्याज्य कर ।  
 भरत तुम्हारे योग्य न हो जाता कही,  
 तो समझोगा राम उन्हे भ्राता नहीं ।  
 तुम हो ऐसे प्रजावृन्द, भूलो न हे,  
 जिनके राजा देव-कार्य साधक रहे ।  
 गये छोड़ सुख-धाम दैत्य-संग्राम मे,  
 धैर्य धरो तुम, वही वीर्य है राम मे ।  
 बन्धु, विदा दो उसी भाव से तुम हमे,  
 वन के काँटे बनें कीर्ण कुकुम हमे ।  
 करूँ पाप-संहार, पुण्य-विस्तार मैं,  
 भरूँ भद्रता, हूँ विघ्न-भय-भार मैं ।  
 या जाने दो आर्य भगीरथ-रीति से;  
 कहूँ शुक्ल-ऋण-मुक्त पिता को प्रीति से ।

सौ विघ्नो के बीच व्रतोद्यापन करूँ,  
 गंगा-सम कुछ नव्य निधि-स्थापन करूँ ।  
 उठो, विघ्न मत बनो धर्म के मार्ग में,  
 चलो स्वयं कल्याण-कर्म के मार्ग में ।  
 दो मुझको उत्साह, बढूँ, विचरूँ, तरूँ,  
 पद पद पर मैं चरण-चिह्न अंकित करूँ ।”

क्षिप्त खिलौने देख हठीले बाल के,  
 रख दे माँ ज्यो उन्हें संभाल संभाल के ।  
 विभु वाणी से वही, पडे थे जो अडे,  
 मन्त्रमुग्ध-से हुए अलग उठकर खडे ।  
 भुङ्ग देखे जो किन्तु उठाकर सिर उन्हें,  
 पा सकते थे कहाँ पौरजन फिर उन्हें ।  
 भोके-सा भट स्वच्छ मार्ग से रथ उडा,  
 धड मानो कुछ दूर शून्य पथ भी मुडा ।  
 चले यथा रथ-चक्र अचल भावित हुए,  
 युग पाश्वर्षों के अचल दृश्य धावित हुए ।  
 सीमा पूरी हुई जहाँ साकेत की,  
 पूर, प्रान्तर, उद्यान, सरित, सर, खेत की,

स्के सधे हय, हीस उठे रज चूमकर ,  
 उतर पुरी की ओर फिरे प्रभु घूमकर ।  
 जन्मभूमि का भाव न गव भीतर रुका ,  
 आर्द्र भाव से कहा उन्होंने, सिर झुका—  
 “जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे ,  
 हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे ।  
 तेरे कीर्ति-स्तम्भ, सीध, मन्दिर यथा—  
 रहे हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा ।  
 जाते हैं हम, किन्तु समय पर आयेंगे ;  
 आवर्पक तब तुम्हें और भी पायेंगे ।  
 उड़े पक्षिकुल दूर दूर आकाश में ,  
 तदपि चग-सा बँधा कुञ्ज-गृह-पाश में !  
 हममें तेरे व्याप्त विमल जो तत्व है ,  
 दया, प्रेम, नय, विनय, शील, शुभ सत्त्व है ;  
 उन सबका उपयोग हमारे हाथ है,—  
 सूक्ष्म रूप में सभी कही तू साथ है !  
 तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वास में ,  
 मानस में जल और अनल उच्छ्वास में ।  
 अनासक्ति में सतत नभस्थिति हो रही ,  
 अविचलता में बसी आप तू है मही ।

गिर गिर, उठ उठ, खेल-कूद, हँस बोलकर ;  
 तेरे ही उत्सव-अजिर मे डोलकर—  
 इस पथ मे है सहज हुआ चलना हमे ,  
 छल न सकी वह लोभ-मोह छलना हमे ।  
 हम सौरो की प्राचि, पुराधिष्ठात्रि तू ,  
 मनुष्यत्व - मनुजात - धर्म की धात्रि तू !  
 तेरे जाये मदा याद आते रहे ,  
 नव नव गौरव पुण्यपर्व पाते रहे ।  
 तू भावो की चारु चित्रशाला बनी ,  
 चारित्र्यो की गीत-नाट्यमाला बनी ।  
 तू है पाठावली आर्यकुल-कर्म की ,  
 पत्र पत्र पर छाप लगी ध्रुव धर्म की ।  
 चलना, फिरना और विचरना हो कही ,  
 किन्तु हमारा प्रेम-पालना है यही ।  
 हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नर-लोक मे ,  
 शिशु ही हूँ तुझ मातृभूमि के ओक में ।  
 यही हमारे नाभि-कज की नाल है ,  
 विवि-विधान की सृष्टि यही सुविशाल है ।  
 हम अपने तुझ दुग्ध-धाम के विष्णु हैं ,  
 हैं अनेक भी एक, इसीसे जिष्णु हैं ।

तेरा पानी शस्त्र हमारे हैं धरे,  
जिसमे अरि आकण्ठमग्न होकर तरे।  
तव भी तेरा शान्ति भरा सद्भाव है,  
सब क्षेत्रों मे हरा हृदय का हाव है।  
मेरा प्रिय हिण्डोल निवृज्जागार तू,  
जीवन-सागर, भाव-रत्न-भाण्डार तू।  
मैं हूँ तेरा सुमन, चढूँ-सरसूँ कही,  
मैं हूँ तेरा जलद, बढूँ-धरसूँ कही।  
द्युचिरुचि शिल्पादर्श शरदुधन-पुञ्ज तू,  
कलाकलित, अति ललित कल्पना-कुञ्ज तू।  
स्वर्गोपरि साकेत, राम का धाम तू,  
रक्षित रख निज उचित अयोध्या नाम तू।  
राज्य जाय, मैं आप चला जाऊँ कही,  
आऊँ अथवा लोट यहाँ आऊँ नहीं,  
रामचन्द्र भवभूमि अयोध्या की सदा,  
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा।”

आया भोका एक वायु का सामने,  
पाया सिर पर सुमन समर्पित राम ने।

पृथ्वी का गुण सरस गन्ध मन भा गया ,  
 खगकुल का कल विकल करुण रव छा छाया ।  
 क्षण भर तीनो रहे मूर्ति जैसे गढ़े ,  
 लेकर फिर निश्वास दीर्घ रथ पर चढ़े ।  
 बैठ चले चुपचाप सभी निस्पन्द-से ,  
 बड़े अश्व भी निरानन्द गति मन्द से ।  
 पहुँचे तमसा - तीर साँभ को सयमी ,  
 वही विताई गई प्रथम पथ की तमी ।  
 स्वजन-शोच-सकोच तनिक बाधक हुआ ,  
 किन्तु भरत-विश्वास शयन-माधक हुआ ।  
 सजग रहे सौमित्रि, बने प्रहरी बहो ;  
 निद्रा भी ऊमिला-सदृश घर ही रही !  
 प्रभु-वर्चा में मग्न सुमन्त्र समेत थे ,  
 बीत गई कब रात, सचेताचेत थे ।

पर दिन पथ में निरख स्वराज्य-समृद्धियाँ ,  
 प्रजावर्ग की धर्म - धान्य - धन - वृद्धियाँ ,  
 गोरसधारा - सदृश गोमती पारकर ,  
 पहुँचे गंगा - तीर धीर धृति धारकर ।



यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,  
स्वर्ग-कण्ठ से छूट, धरा पर गिर गड़ी !  
सह न सकी भव-ताप, अचानक गल गई,  
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी ।

‘प्रभु आये हैं,’ समाचार सुनकर नया,  
भेट लिये गुहाराज सपरिकर आगया ।  
देख सखा को दिया समादर राम ने,  
उठकर, बढ़कर, लिया प्रेम से सामने ।  
“रहिए, रहिए, उचित नहीं उत्थान यह,  
देते हैं श्रीमान् किसे बहु मान यह !  
मैं अनुगत हूँ, भूल पड़े कहिए कहाँ ?  
अपना मृगयावास समझ रहिए यहाँ ।  
कुशल मूल इस मधुर हास पर भूल सब,  
वाहूँ मैं निज नीलविपिन के फूल सब ।  
सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब, किसे,  
क्यों न कहूँ मैं अहोभाग्य अपना इसे ?  
पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता,  
भूल रही है आज मुझे निज हीनता ।

मैं अभाव में भाव लेखता हूँ तुम्हें ,  
 निज गृह में गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हें ,  
 झुटियों पर पद - धूलि डालिए आइए ,  
 घर न देखकर, मुझे निहार निभाइए ।  
 न हो योग्य आतिथ्य, अटल अनुरक्ति है ,  
 चाहे मुझमें शक्ति न हो, पर भक्ति है ।  
 अथवा भृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—  
 पड सकते हैं चार चरण ये, पर कहाँ  
 आ सकती हैं, बार बार माँ जानकी ?  
 कुलदेवी - सी मिली मुझे हाँ, जानकी ।  
 भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे ,  
 मिथिलापुर के राजभोग है याद वे ।  
 पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही !  
 एक ग्रास में तृप्त न कर दूँ तो सही !  
 रुखा - सूखा खान - पान भी इष्ट है ,  
 भाता किसको सदा मिष्ट ही मिष्ट है !  
 तुम सदैव सौभाग्यवती, जीती रहो ,  
 उभय कुलों की प्रीति-सुधा पीती रहो ।”  
 सिर गृह ने हँस उन्हें हँसाकर नत किया ,  
 प्रभु ने तत्क्षण उसे अक में भर लिया ।

चौका वह इस बार, देखकर राम को—  
 शैवलपरिवृत यथा सरोरुह श्याम को !  
 "ऐं, ये बल्कल ! दृष्टि कहाँ मेरी रही ?  
 कौतुक, अब तक देख न पाई वह यही !  
 कहिए, ये किसलिए आज पहने गये ?  
 कहाँ राजपरिधान और गहने गये ?  
 क्या मुनि बनकर हरिण भुलाये जायेंगे ?  
 पर वे चंचल, सहज समीप न आयेंगे ।  
 किसी वेश में रहें रूप ही घन्य यह ,  
 जय आभरणावरण - मुक्त नावश्यक यह !"  
 "वचनो से ही तृप्त हो गये हम सबे ,  
 करो हमारे लिए न अब कुछ श्रम सबे !  
 वन का व्रत हम आज तोड़ सकते वही .  
 तो माभी की भेट छोड़ सकते नही ।  
 तपस्वियों के विघ्न दूर कर प्रेम से ,  
 कुछ दिन हम वनवास करेंगे क्षेम से ।  
 देखेंगे पुर - कार्य भरत पुण्यस्पृही ,  
 होता है कृतकृत्य सहज बहुजन गृही ।"  
 'ऐसा है तो साथ चलेगा दास यह ,  
 होगा सचमुच बड़ा विनोदी वास वह ।

वन मे वे वे चमत्कार हैं सृष्टि के ,  
 पलक खुले ही रहे देखकर दृष्टि के !”  
 “सुविधा करके स्वयं भ्रमण-विश्राम की ,  
 सब कृतज्ञता तुम्ही न ले लो राम की ।  
 औरो को भी सखे, भाग दो भाव से ,  
 कर दो केवल पार हमे कल नाव से ।”

ध्रुवतारक था व्योम विलोक समाज को ,  
 प्रभु ने गौरव-मान दिया गुहराज को ।  
 प्रकृत वृत्त जब सुना परन्तु विपाद का ,  
 मुरझ गया मन सुमन-समान निपाद का ।  
 देवमूर्ति वे राजमन्दिरो के पले ,  
 कुश-शय्या पर आज पड़े थे तरु-तले ।  
 हाय ! फूलते हुए भाग्य कैसे फले ,  
 उस भावुक के अथु उमडकर वह चले ।  
 “धुरक रही है साँय साँय कर रात भी ,  
 मानो लय मे लीन तरगाघात भी ।  
 तब भी लक्ष्मण घूम रहे हैं जागकर ,  
 निद्रा का निज तुच्छ भाग तक त्यागकर ।

यह किसका अभिशाप न जाने हे हरे,  
 चलती है दुर्नीति राज्य से ही अरे !  
 खोकर ऐसे लाल, लिया क्या केकयी ?  
 क्या करना था तुझे, किया क्या केकयी ?  
 इस भव पर है असित वितान तना सदा ,  
 जिसके सम्भे दुःख, शोक, भय, आपदा ।  
 इस अचिन्त्यगति गगन तले जब तक पड़े ,  
 हम हैं कितने विवश सभी छोटे-बड़े !  
 जो प्रभु निज साकेत छोड़, वन को चला ,  
 उसके सम्मुख शृंगवेरपुर क्या भला ?  
 पर उसको दूँ और कौन उपहार मैं ?  
 हूँगा कल कृतकृत्य आपको वार मैं ।”  
 बद्धमुष्टि रह गया वीर, ज्यों भ्रान्त हो ,  
 बोले तब सीमित्रि—“बन्धु, तुम शान्त हो !  
 तुमको जिनके लिए दुःख या गेप है ,  
 स्वयं उन्हें निज हेतु सौख्य-मन्तोष है ।  
 शृंगवेरपुर - राज्य करो तुम नीति से ,  
 आर्य तृप्त है मात्र तुम्हारी प्रीति से ।  
 मिला घर्म का आज उन्हें वह घन नया ,  
 जिसपर कोसल राज्य स्वयं बाग गया ।

समय जा रहा और काल है आ रहा ,  
 सचमुच उलटा भाव भुवन में छा रहा ।  
 कोट-पूर्ण हैं कुसुम, कण्टकित है मही ,  
 जो सबसे वच निकल चले, विजयी वही ।  
 कर्म-हेतु ही कर्म नहीं हम कर सकें ,  
 तो उनके फल हमे कहाँ से धर सकें ।  
 कर्ता मानो जिसे तात, भोक्ता वही ,  
 बन्ध-मुक्ति को एक युक्ति जानो यही ।  
 मेरे 'लिये विषाद व्यर्थ है, धन्य मैं ,  
 सुप्त नहीं हूँ, सतत सजग, चैतन्य मैं ।  
 मैं तो निज भवसिन्धु कभी का तर चुका ,  
 रामचरण में आत्मसमर्पण कर चुका ।  
 जीव और प्रभु-मध्य अड़ी माया खड़ी ,  
 वह दुरत्यया और शक्तिशीला बड़ी ।  
 साधो उसको और मनाग्रो युक्ति से ,  
 सखे, समन्वय करो भक्ति का भुक्ति से ।"

निकल गई चुपचाप निशा अभिसारिका ,  
 पड़ी द्विजों ने बोधमयी कल-कारिका ।

सबने मंजान किया, निरख प्रातश्छटा ,  
 स्वर्णघटित थी रजत जाह्नवी की घटा ।  
 लेकर बट का दूध जटा प्रभु ने रची ,  
 अब सुमन्त्र के लिये न कुछ आशा बची ।  
 'स्वयं क्षात्र ने लिया आज वैराग्य क्या ?  
 शान्त सर्वथा हुआ हमारा भाग्य क्या ?'  
 प्रभु ने उन्हें प्रबोध दिया तब प्रीति से—  
 "व्रत ले तो फिर उसे निभा दे रीति से ।  
 जटाजूट पर छत्र करे छाया भले ,  
 किन्तु मुकुट की हँसी मात्र है तरु-तले ।  
 सौम्य, वहाँ क्या काम भला विधि वाम का ?  
 यह तो है सौभाग्य तुम्हारे राम का ।  
 जाकर मेरा कुशल कहो तुम तात से ,  
 दो सबको सन्तोष, मिले जिस बात से ।  
 मूल-तुल्य तुम रहो, फूल-से हम खिले ,  
 कब बीते यह अवधि और आकर मिलें ।  
 फिर भी ये दिन अधिक नहीं हैं, अल्प हैं ,

समयोचित सन्देश उन्हे प्रभु ने दिये ,  
 सबके प्रति निज भाव प्रकट सबने किये ।  
 कह न सके कुछ सचिव विनीत विरोध मे ,  
 उमड़ी करुणा और प्रबोध-निरोध मे ।  
 देख सुमन्त्र-विपाद हुए सब अनमने ,  
 आये सुरसरि-तीर त्वरित तीनो जनें ।  
 बैठी नाव निहार लक्षणा - व्यजना ,  
 'गंगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना ।

बड़ी पदो की ओर तरंगित सुरसरी ,  
 मोद-भरी मदमत्त भूमती थी तरी ।  
 धो ली गुह ने धूलि अहल्या-तारिणी ,  
 कवि की मानस-कोप-विभूति-विहारणी ।  
 प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया ,  
 कर चरणामृत-पान अमर वह हो गया ।  
 हीस रहे थे उधर अश्व उद्ग्रीव हो ,  
 जैसे उनका उडा जा रहा जीव हो ।  
 प्रभु ने दिया प्रबोध हाथ से, हेरकर ,  
 पाँछा गुह ने नेत्र-नीर, मुहं फेरकर ।



“कोमल है वस प्रेम, कठिन कर्तव्य है,  
' कौन दिव्य है, कौन न जानें भव्य है ?

“जय गगे, आनन्दतरंगे, कलरवे,  
अमल अचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे ।  
“सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा,  
हम सबकी तुम एक चलाचल सम्पदा ।  
दरस-परस की सुकृति-सिद्धि ही जय मिली,  
मांगे तुमसे आज और क्या मैथिली ?  
वस, यह वनकी अवधि यथाविधि तर मकूं ।  
समुचित पूजा-भेट लौटकर कर सकूं ।”  
उद्भासित थी जह्नु नन्दिनी मोद मे,  
किरण - मूर्तियाँ खेल रही थी गोद मे !  
वैदेही थी झलक झलक पर भूमती,  
त्रिविध पवन गति अलक-पलक थी चूमती ।

बोले तब प्रभु, परम पुण्य पथ के पथी—  
“निज कुल की ही कीर्ति प्रिये, भागीरथी ।”  
“तुम्ही पार कर रहे आज जिसको अहो !”  
सीता ने हंस कहा—“क्यों न देवर, कहो ?”

"है अनुगामीमान देवि, यह दास तो !"  
 गुह बोला—"परिहास बना वनवास तो !"  
 वहाँ हर्ष के साथ कृतूहल छा गया ,  
 नाव चली या स्वयं पार ही आ गया ।

"मिलन-स्मृति-सो रहे यहाँ यह क्षुद्रिका ,"  
 - सीता देने लगी स्वर्णमणि - मुद्रिका ।  
 गुह बोला कर जोड़ कि—"यह कैसी कृपा ?  
 न हो दास पर देवि, वभी ऐसी कृपा ?  
 क्षमा करो, इस भाँति न तुम तज दो मुझे ,  
 स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे ।  
 जड़ भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे ,  
 उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे ?"  
 उसे हृदय से लगा लिया श्रीराम ने ,  
 ज्यो त्यो करके विदा किया धी-धाम ने ।  
 पथ में सबके प्रीति-हर्ष-विस्मय बनें ,  
 तीर्थराज की ओर चले तीनो जनें ।

बही खडे थे खेत, वही प्रान्तर पडे ,  
 शून्य सिन्धु के द्वीप गाँव छोटे-बडे ।

पथ के प्रहरो वृक्ष भूमते थे कही ,  
 खग-मृग चरते हुये घूमते थे कही ।  
 छोटी-मोटी कही कही थी भाड़ियाँ ,  
 बनी शशादिक हेतु प्राकृतिक वाड़ियाँ ।  
 पगडंडी थी गई मार्ग से ठीक यों—  
 शास्त्र छोड़ बन जाय लोक की लीक ज्यों ।  
 टीले दीखे कही और भरके कही ,  
 दृश्य बावड़ी, कूप और सर के कही ।  
 पथ-पाश्वर्षों में मिले पथिक-चत्वर उन्हें ,  
 कौतूहल ने हरा किया सत्वर उन्हें ।  
 चरणों पर कण और मुखों पर बिन्दु थे ,  
 रज.पूर्ण थे पद्म, अमृतयुत इन्दु थे ।  
 देख घटा-सी पड़ी एक छाया घनी ,  
 ठहर गये कुछ काल वहाँ कोसलधनी ।  
 “तुम दोनों क्या नहीं थके ? मैं ही थकी ?”  
 सीता कुछ भी और न आगे कह सकी ।  
 हँसते हँसते सती अचानक रो पड़ी ,  
 तप्त हेम की मूर्ति द्रवित-सी हो पड़ी ।  
 “मुझको अपने लिए नहीं कुछ सोच है ,  
 तुम्हें असुविधा न हो, यही सकोच है ।”

“प्रिये, हमारे लिए न तुम चिन्ता करो,  
अभी नया अभ्यास, तनिक धीरज धरो।”

जुड़ आई थी वहाँ नारियाँ ग्राम की,  
वे साधक ही सिद्ध हुई विश्राम की।  
सीता सबसे प्रेम-भावपूर्वक मिली,  
लतिकाओं में कुसुमकली-सी वे खिली।  
“शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ है?”  
‘गोरे देवर, श्याम उन्हीवे ज्येष्ठ है।’  
वैदेही यह सरल भाव से कह गई,  
तब भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गई।

यो स्वच्छन्द विराम लाभ करते हुए,  
मार्ग-जनों में भूरि-भाव भरते हुए,  
पर-दिन तीनों तीर्थराज में आ गये,  
द्विगुण पर्व-सा भरद्वाज मुनि पा गये।  
स्वयं प्रियेणी धन्य हुई उन तीन से,  
बोल उठे सौमित्रि अमृत में लीन-से—  
“देखो भाभी, तीर्थराज की यह छटा,  
वर्षा से आ मिली शरद की-सी घटा।”

हँसकर बोली जनकसुता सस्नेह यो—  
 “श्याम-भौर तुम एक प्राण, दो देह ज्यो ।”  
 रामानुज ने कहा कि “भाभी, क्यों नहीं,  
 सरस्वती-सी प्रवट जहाँ तुम हो रही ।”  
 “देवर, मेरी सरस्वती अब है कहाँ ?  
 सगम-शोभा निरख निमग्न हुई यहाँ ।  
 धूप-छाँह का वस्त्र मान उसका बडा,  
 मन्द पवन से लहर रहा है यह पडा ।”  
 प्रभु बोले—“यह गीत-काव्य-चित्रावली,  
 तुम माई के लाल, जनक की बेलली ।  
 अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला,  
 किन्तु आप अनुभूति यहाँ है निश्चला ।  
 तुम ये दो दो कलाकार जीते रहो,  
 मुझे प्रशंसा कठिन एक की भी अहो ।  
 सुनो, मिलन ही महातीर्थ समार मे,  
 पृथ्वी परिणत यही एक परिवार मे ।  
 एक तीसरे हुए मिले जब दो जहाँ,  
 गंगा-यमुना बनी त्रिवेणी ज्यो यहाँ ।  
 त्याग और अनुराग चाहिए वस, यही ।”  
 भरद्वाज ने कहा—“भरा तुममे बही ।

जाओगे तुम जहाँ, तीर्थ होगा वही ,  
 मेरी इच्छा है कि रहो गृह-सम यही ।”  
 प्रभु बोले—‘कृतकृत्य देव, यह दास है ,  
 पर जनपद के पास उचित क्या वास है ?  
 ऐसा वन निर्देश कीजिए अब हमे ,  
 जहाँ सुमन - सा जनकसुता का मन रमे ।  
 अपनी सुध ये कुलस्त्रियाँ लेती नहीं ,  
 पुरुष न लें तो उपालम्भ देती नहीं ।”  
 [ “कर देती है दान न अपने आपको ,  
 कैसे अनुभव करें स्वात्म-सन्ताप को ।  
 वैदेही की जाति सदैव विदेहिनी ,  
 वन मे भी प्रिय सग सुखी कुल-गेहनी ।  
 चित्रकूट तब तात, तुम्हारे योग्य है ,  
 जहाँ अचल सुख, शान्ति और आरोग्य है ।”  
 [ “जो आज्ञा” कह राम सहर्ष प्रयाग से ,  
 चित्रकूट की ओर चले अनुराग से ।  
 दिखला आये मार्ग आप मुनिवर उन्हे ,  
 मिली सूर्य की सुता धन्य धुनिवर उन्हे ।  
 जल था इतना अमल कि नभ-सा नील था ,  
 विभवप के ही वर्ण-योग्य समशील था ।

राजपुत्र भी कलाकुशल थे वे कृती,  
 धीर, धारणाधार, धुरन्धर, ध्रुवधृती।  
 लक्ष्मण लाये दार-लताएँ तोड़कर,  
 नौका निर्मित हुई उन्हीको जोड़कर।  
 सभी निष्ठावर स्वावलम्ब के भाव पर,  
 सीता प्रभु-वर पकड़, चटी निज नाव पर।  
 ज्यो पुरेन पर फुल्ल पद्मिनी तर चली,  
 चले सहारा दिये हस सम युग बली।

करके यमुना-स्नान, विलम बट के तले,  
 लक्ष्मण, सीता, राम विवट वन को चले।  
 वहाँ विविध वैचित्र्य, विलक्षण ठाठ थे,  
 अगणित आवृत्ति दृश्य, प्रकृति के पाठ थे।  
 “वन मे अग्रज अनुग, अनुज हैं अग्रणी।”  
 सीता ने हँस कहा—“न हो कोई व्रणी।”  
 “भाभी, फिर भी गई न आई तुम कही,  
 मध्य भाग की मध्यभाग मे ही रही।”  
 मुसकाये प्रभु, मधुर मोदधारा बही,—  
 “वन मे नागर भाव त्रिये, अपना यही।

बीते यो ही अवधि यहाँ हँस-खेलकर  
 तो हम सब कृतकृत्य, कष्ट भी भेलकर ।”  
 “आहा ! मैं तो चौंक पड़ी, यह वक्ष से,—  
 फड़ फड़ करके कौन उड़ा दृढ़ पक्ष से ।  
 देखो, पहुँचा हाल कही का वह कही ।  
 वैमानिक हो, किन्तु मनुज पक्षी नहीं ।  
 ऊपर विस्तृत व्योम, विपुल वसुधा तले,  
 फिर भी, कैसे फाड़ फाड़ अपन गले—  
 वे तीतर नल-चबु मारकर लड़ रहे,  
 कौन कहे किस तुच्छ बात पर अड़ रहे ।  
 यहाँ सरल सकुचित घनी वनवीथि है,  
 वनस्थली की माँग वनी वनवीथि है ।  
 वनलक्ष्मी सौभाग्यवती फूले - फले,  
 भूले शिशु-सी शान्ति, पवन पक्षा भूले ।  
 आगे आगे भाग रहा है मोर यह,  
 पक्षो से पथ भ्राड, चपल चितचोर यह ।  
 मचक मचक वह वीर-मण्डली खेलती,  
 लचक लचक वच डाल भार है भेलती ।  
 नाथ, सभी कुछ त्याग, जानकर झूठ हो,  
 खड़े तपस्वी - तुल्य कही ये ठूठ ही ।”



“इन पर भी तो प्रिये, लताएं चढ़ रही ।  
 मानो फिर वे इन्हे हराकर, बढ़ रही !”  
 “कही सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी ,  
 अंध रही है पड़ी जहाँ छाया घनी !  
 घुस धीरे से किरण लोल दलपुञ्ज मे ,  
 जगा रही है उसे हिलाकर कुञ्ज मे ।  
 किन्तु वहाँ से उठा चाहतो वह नहीं ,  
 कुछ करवट-सी पलट, लेटती है वही ।  
 सखि, तरुवर-पद-मूल न छोड़ो तुम कभी ,  
 एक रूप है वहाँ फूल - काँटे सभी !  
 फैलाये यह एक पक्ष, लीला किये ,  
 छाती पर भर दिये, अग ढोला किये ,—  
 देखो, ग्रीवा - भग - सग किस ढग से ,  
 देख रहा है हमे बिहग उमग से ।  
 पाता है जो जहाँ ठौर, उगता वही ;  
 मिलता है जो जिसे जहाँ, चुगता वही ।  
 अत्र तत्र उद्योग सर्व सुखसत्र है ,  
 पर सुयोग सयोग मुख्य सर्वत्र है ।”  
 “माना आर्यो, सभी भाग्य का भोग है ,  
 किन्तु भाग्य भी पूर्वकर्म का योग है ।”

"प्रिये, ठीक है, भेद रहा बस, नाम का ,  
 लक्ष्मण का उद्योग, भाग्य है राम का ।"  
 "नाथ, भाग्य तो आज मैथिली का बड़ा ,  
 जिसको यह सुख छोड़, न घर रहना पड़ा ।  
 वह किशुक क्या हृदय खोलकर खिल गया ,  
 लो, पलाश को पुष्प नाम भी मिल गया ।  
 ओहो ! कितनी बड़ी केचुली यह पड़ी !  
 पवन-पान कर फूल न हो फिर उठ खड़ी !"  
 "आयें, तब भी हमें कौन भय है भला ?  
 वह मरने भी चला, मारने जो चला ।  
 अच्छा, ये क्या पड़े ? बताओ तो सही ,"  
 "देवर सब सब नहीं जानते, बस यही ।  
 विविध वस्तुएं हमें यहाँ हैं देखनी ,  
 पर इनसे क्या बने न सुन्दर लेखनी ?"  
 "ठीक, यहाँ पर शल्य छोड़कर शल गया ,  
 नाम रहे पर काम तुम्हारा चल गया !  
 मुस्तकगन्धा खुदी मृत्तिका है इधर ,  
 बने आर्द्रपदचिह्न, गये शूकर जिधर ,  
 देखो, चुकशिशु निकल निकल वह नीड़ से ,  
 घुसता है फिर वही भीत-सा भीड़ से ।

नीरस तरु का प्राण शान्ति पाता नहीं ,  
जा जाकर भी, अवधि बिना जाता नहीं !”

“पास पास ये उभय वृक्ष देखो, ग्रहा !  
फूल रहा है एक, दूसरा झड़ रहा ।”

“है ऐसी ही दशा प्रिये, नर लाक की ,  
कही हर्ष की बात, कही पर शोक की ।  
झाड़ विषम झखाड़ बने वन में खड़े ,  
काँटे भी हैं कुसुम-सग बाटे पड़े ।”

“काँटों का भी भार मही माता महे ,  
जित्ने पशुता यहाँ तनिक डरती रहे ।  
वन तो मेरे लिए कुतूहल हो गया ,  
कौन यहाँ पर विपुल बीज ये बो गया ?  
अरे, भयकर नाद कौन यह भर रहा ?”

“भाभी, स्वागत सिंह हमारा कर रहा ।  
देखा चाहो शब्दवेध तुम, तो कहो ?”

“फिर देखूंगी, अभी शान्त ही तुम रहो ।  
वन में सौ सौ भरे पड़े रस के घड़े ,  
वे मटके-से लटक रहे कितने बड़े !

क्या कर सकती नहीं क्षुद्र की भी क्रिया ?”  
पुलक उठी मधुचक्र देख प्रभु की प्रिया ।

“माली हारें सीच जिन्हे आराम मे ,  
बढते हैं वे वृक्ष सहज वनधाम मे ।  
आहा ! ये गजदन्त और मोती पडे ,  
पके फलों के साथ साथ मानो भडे ।  
जिन रत्नों पर बिके प्राण भी पण्य मे ,  
वे ककड हैं निपट अगण्य अरण्य मे ।”

चल यो सब वाल्मीकि महामुनि से मिले ,  
ध्यानमूर्ति निज प्रकट प्राप्त कर वे खिले ।  
वे ज्यो कविकुलदेव धरा पर धन्य थे ,  
ये नायक नरदेव अपूर्व अनन्य थे ।  
“बवे, दाशरथि राम आज वृत्तकृत्य है ,  
करता तुम्हे प्रणाम मपरिकर मृत्य है ।”  
“राम, तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है ,  
कोई रुवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है ।”

आये फिर सब चित्रकूट मोदितमना ,  
जो अटूट गढ गहन वन-श्री का बना ।  
जहाँ गर्भगृह और अनेक सुरग थे ,  
विविध धातु-पाषाण-पूर्ण सत्र अग थे ।

जिसकी शृङ्गावली विचित्र बड़ी-बड़ी ,  
 हरियाली की भूल, फूल-पत्ती बड़ी ।  
 गिरि हरि का हरवेप देख वृष वन मिला ,  
 उन पहले ही वृषारूढ का मन खिला ।  
 “शिला-कलश से छोड़ उत्स उद्रेक-सा ,  
 करता है नग-नाग प्रकृति-अभिषेक-मा ।  
 क्षिप्त सलिलकण किरण योग पाकर सदा ,  
 वार रहे हैं रुचिर रत्न-मणि-मम्पदा ।  
 वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जडा ,  
 किसे न होगा यहाँ हर्ष-विषमय बड़ा ?”

।

लक्ष्मण ने भट्ट रची मन्दिराकृति कुटी ,  
 मधु-मुगन्धि के हेतु सरोरुह मम्पुटी ।  
 वास्तु शान्ति-सौ स्वयं प्रकट थी जानकी ,  
 की मुनियो ने रीति तथापि विधान की ।  
 वनचारी जन जुड़े जोड़कर डालियाँ ,  
 नृत्य-गान-रत हुए, बजाकर तालियाँ ।

“लेकर पवित्र नेत्रनीर रघुवीर धीर ,  
 वन में तुम्हारा अभिषेक करें आओ तुम ,  
 ब्योम के वितान तले चन्द्रमा का छन तान ,  
 सच्चा सिंह-आसन बिछा दे, बैठ जाओ तुम ।  
 अर्घ्यपाद्य और मधुपर्क यहाँ भूरि भूरि ,  
 अतिथि समादर नवीन नित्य पाओ तुम ,  
 जगल में मंगल मनाओ, अपनाओ देव ,  
 शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम ।”

/ पृथ्वी की मन्दाकिनी लेने लगी हिलोर ,  
 / स्वर्गंगा उसमें उतर डूबी अम्बर वोर ।

५ पुरदेवी - सी यह कौन पड़ी ?  
 ऊर्मिला मूर्च्छिना मीन पड़ी ।  
 किन तीक्ष्ण करो से छिन्न हुई -  
 यह कुमुद्वती जल - भिन्न हुई ?  
 सीता ने अपना भाग लिया ,  
 पर इसने वह भी त्याग दिया ।  
 गौरव का भी है भार यही ,  
 उर्वी भी पुर्वी हुई मही ।  
 नव वय मे ही विश्लेष हुआ ,  
 यौवन मे ही यति-वेश हुआ ।  
 किस हत विधि का यह योग हुआ ,  
 सुख - भोग भयकर रोग हुआ ।  
 होता है हित के लिए सभी ,  
 करते हैं हरि क्या अहित कभी ।  
 इसमे क्या हित है, वहे जिसे ,  
 बतलावेगा बस समय इसे ।

भर भरकर भीति-भरो अँखियाँ ,  
 करती थी उसे सजग सखियाँ ।

पर शोक भयंकर खन्तर था ,  
 चैतन्य मोह से बढकर था ।  
 वह नई बधू भोली - भाली ,  
 जिसमें सु-राग की थी लाली ,  
 कुम्हलाई यथा कैरवाली ,  
 या ग्रस्त चन्द्र की उजवाली ।  
 मुख-कान्ति पड़ी पीली पीली ,  
 आँखे अशान्त नीली नीली ।  
 क्या हाय ! यही वह वृशकाया ,  
 या उसकी शेष सूक्ष्म छाया ?  
 सखियाँ अवश्य समझानी थी ,  
 आँखे परन्तु भर आती थी ।  
 बोली सुलक्षणा नाम सखी—  
 "है धीरज का ही काम सखी !  
 विधि भी न रहेगा वाम सखी ,  
 फिर आवेगे श्रीराम सखी !  
 नृप ने सुमन्त्र को भेजा है ,  
 मृगयोचित साज महेजा है !  
 यह कहा है कि 'श्रीराम बिना ,  
 जावेगा पल पल वर्ष गिना ।



होगे यथेष्ट चौदह पल ही ,  
 ले आना उन्हें आज कल हो ।'  
 इसलिए न इतना सोच करो ,  
 अब भी आशा है, धैर्य धरो ।'  
 बोली ऊर्मिला विषादमयी—

— 'सब गया, हाथ आशा न गई ।  
 आगे, निष्फल भी बनो रहो ,  
 तुम हो हीरे को कनी अहो !  
 रखती हो मूल्य मारकर भी ,  
 उज्ज्वल हो ग्रन्थकार कर भी ।  
 अब भी सुलक्षणे, आशा है ?  
 यदि है, विश्वास-विनाशा है ।  
 लौटेंगे क्या प्रभु और वहन ?  
 उनके पीछे—हा ! दुःख-दहन !  
 जो ज्ञाता है वे जान चुके ,  
 उनके महत्व को मान चुके ।  
 जिन व्रत पर छोड़ गये सब वे ,  
 लौटेंगे उसे छोड़ अब वे ?  
 निकली अभागिनी मैं ऐसी ,  
 त्रैलोक्य में न होगी जैसी ।

दे सकी न साथ नाथ का भी ,  
 ले सकी न हाथ । हाथ का भी ।  
 यदि स्वामि-सगिनी रह न सकी ,  
 तो क्यों इतना भी कह न सकी—  
 'हे नाथ, साथ दो भ्राता का ,  
 बल रहे मुझे उस भ्राता का ।  
 है प्राण आज भी इष्ट मुझे ,  
 ये प्राण आज भी इष्ट मुझे ।  
 रहकर वियोग से अस्थिर भो ,  
 देखूँ मैं तुम्हे यहाँ फिर भी ।  
 है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बडा ,  
 जो खींच रहा है तुम्हे सडा ।  
 यह भ्रातृ-स्नेह न ऊर्ना हो ,  
 लोगो के लिए नमूना हो ।  
 सुनकर जीजो को मर्म कथा ,  
 गिर पड़ी मैं, न सह सकी व्यथा ।  
 वह नारि-सुलभ दुर्बलता थी ,  
 आकस्मिक-वेग-विकलता थी ।  
 करना न सोच मेरा इससे ,  
 व्रत मे कुछ विघ्न पडे जिससे ।

आने का दिन है दूर सही ,  
 पर है, मुझको अवलम्ब यही ।  
 आराध्य युग्म के सोने पर ,  
 निस्तब्ध निशा के होने पर ,  
 तुम याद करोगे मुझे कभी ,  
 तो बस फिर मैं पा चुकी सभी ।'  
 प्रिय उत्तर भी सुन सकी न मैं ,  
 निज चिर गति भी चुन सकी न मैं ।  
 यह दीर्घ काल काटूँ जिससे ,  
 पूछूँ अब हाय । और किससे ?  
 सजनी सुलक्षणे, धैर्य्य धरूँ ,  
 तो कहो, क्या करूँ, क्या न करूँ ?  
 जिससे महत्व से मण्डित फिर ,  
 देखूँ वह विकसित वदन रुचिर ।  
 मैं अपने लिए अधीर नहीं ,  
 स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं ।  
 क्या से क्या हाय ! हो गया यह ,  
 रस मे विष कौन बो गया यह ।  
 जो यो निज प्राप्य छोड़ देंगे—  
 अप्राप्य अनुग उनके लेंगे ?

माँ ने न तनिक समझा-बूझा,  
 यह उन्हें अचानक क्या सूझा ?  
 अभिप्रेक कहाँ, वनवास कहाँ ?  
 है नहीं क्षणिक विश्वास यहाँ ।  
 भावी समोप भी दृष्ट नहीं,  
 क्या है जो सहसा सृष्ट नहीं,  
 दुरदृष्ट, वता दे स्पष्ट मुझे,—  
 क्यों है अनिष्ट ही इष्ट तुझे ?  
 तू है विगाडता काम बना,  
 रहता है बहुधा वाम बना,  
 प्रतिकार-समय तक दिये बिना !  
 छिपकर, कुछ अकथक किये बिना—  
 करता प्रहार तू यहाँ वहाँ,  
 धोखा देता है जहाँ तहाँ ।  
 तूने जो कुछ दुरदृष्ट, किया,  
 आभास न्वप्न में भी न दिया ।  
कुछ शमन-यत्न करते हम भी,  
 है योगसाध्य दुर्दम यम भी ।”

नभ - ओर ऊमिला ने देखा ,  
 थी ईर्ष्या - भरी दृष्टि - रेखा ।  
 तब नभ भी मानो धधक उठा ,  
 सध्यासुणिमा - मिस भभक उठा ।

रोता दिन बीता, रात हुई ,  
 ज्यो त्यो वह रात प्रभात हुई ।  
 फिर सूनी सूनी साँभ हुई ,  
 मानो सब बेला बाँभ हुई ।  
 ऊमिला कभी तो रोती थी ,  
 फिर कभी शान्त-सी होती थी ।  
 देता प्रबोध जो, सुनती थी ,  
 मन से अतर्क्य कुछ गुनती थी ।

उन माताओं की करुण-कथा ,  
 देती थी दारुण द्विगुण व्यथा ।  
 सुत गये तथा पति पड़े यथा ,  
 रोने तक का अवकाश न था ।  
 आँधी से उखड़े वृक्ष - सदृश ,  
 थे भूप शोक - हत जर्जर-कृश ।

ज्यो हतप्रसूना लतिकाएँ ,  
 वे थी समीप दायें - बाये ।  
 ज्यो त्यो कर शोक सहन करके ,  
 अचल से वायु वहन करके ,  
 बोली प्रभुवरप्रसू तब यो ,  
 "हे नाथ, अधीर न हो अब यो ।  
 तुमने निज सत्य - धर्म पाला ,  
 सुत ने स्वापत्य - धर्म पाला ,  
 पत्नी पति - सग वनी देवी ,  
 प्रिय अनुज हुआ अग्रज - सेवी ।  
 जो हुआ सभी अविचित्र हुआ ,  
 पर धन्य मनुष्य - चरित्र हुआ ।  
 गौरव-बल से यह शोक सहो ,  
 देखो हम सबकी ओर अहो !"  
 भूपति ने आँखें खोल कहा ,—  
 "यह कौन है कि जो बोल रहा ?  
 कौशल्ये धन्य राम - मात. ,  
 क्या कहूँ, हाय रे ! धिक् धातः !  
 यह शोक कहाँ तक गोकुं में ?  
 किस भुहं से तुम्हे बिलोकुं में ?

हा ! आज दृष्टि भी कहाँ गई ?  
 वह बधू जानकी जहाँ गई !  
 सीता भी नाता तोड़ गई ,  
 इस वृद्ध ससुर को छाड़ गई !  
 ऊर्मिला बहू की बड़ी बहन !  
 किस भाति करूं मैं शाक सहन ?  
 ऊर्मिला कहाँ है, हाय 'बहू' !  
 तू रघुकुल की असहाय बहू !  
 मे ही अनर्थ का हेतु हुआ ,  
 रविकुल मे सचमुच 'केतु' हुआ !  
 यदि राम न लीटेंगे वन से ,  
 तो भेट न होगी इस जन से ।  
 वैकेयी, भोगकर बलि मेरी ,  
 राज्यश्री तृप्त रहे तेरो !  
 पाकर दशरथ जैसा दानी ,  
 कर चुकी भोगिनी मनमानी !  
 मांगो तुम भी कुछ पटरानी ,  
 दूँ लेकर आँखों का पानी ।"  
 "माँगूंगी क्यों न नाथ, तुमसे ,  
 दो यही मुझे कल्पद्रुम-से ।

कैकेयी हो चाहे जैमी,  
सुत वचिता न हो मुझ जैमी।”

“क्या यही मागकर लेती हो,  
या मरण जान्ति तुम देती हो।  
पर कहाँ भाग्य मे वह मेरे,  
कृत कर्म जो मुझे हैं घेरे।”

‘दोनों’ सुगतिर्याँ गेली थी,  
पति के पद पद्म भिगोनी थी।  
नृप राम राम ही रटते थे,  
युग के समान पल बटते थे।  
फिर भी मुमन्त्र हैं साथ गये,  
गृह-दशा देख रघुनाथ गये।

अटकी थी आशा एक यही,  
जो थी अत्र उनको जिला रही।

आशा अबलम्बदायिका है, । ५ ।

क्या ही वन-गीत-गायिका है । ।

‘वह आप क्यों न नाता तोड़े,  
पर कौन है कि उसको छोड़े ?



ऊँचे अट्टो पर चढ़ चढ़कर—  
 सब ओर पथो मे बढ़ बढ़कर,  
 रथ मार्ग देखने लगे सभी,  
 फिर आवे राघव कही अभी ।  
 पर यदि रघुनाथ लौट आते—  
 तो प्रथम ही न वे वन जाते ।  
 लौटे सुमन्त्र ही बेचारे,  
 अनुरोध - तर्क भी सब हारे ।

कर मे घोड़ो की रास लिये,  
 निज जीवन का उपहास किये,  
 होकर मानो परतन्त्र निरे,  
 सूना रथ लिये सुमन्त्र फिरे ।  
 रथ मानो एक रिक्त घन था,  
 जल भी न था, न वह गर्जन था ।  
 वह विजली भी थी हाय ! नहीं,  
 विधि-विधि पर कही उपाय नहीं ।  
 जो थे समीर के जोड़ों के,  
 उठते न पैर थे घोड़ों के !

थे राम बिना वे भी रोते, ~L  
 पशु भी प्रेमानुरक्त होते।  
 जो भीषण रण में भी न हटे,  
 मानो . अब उनके पैर कटे।  
 अति भार हुआ रीता रथ था,  
 गृह-पथ मानो अरण्यपथ था !  
 अवसन्न सचिव का तन-मन था,  
 करता समीर भी सन सन था।  
 सिर पर अनन्त-सा आ दूटा,  
 कटि दूटी और नाभ्य फूटा !  
 धरती मानो थी मरी पड़ी,  
 यी प्रकृति भीति से भरी पड़ी।  
 सम्मुख मानो मुख खोल बड़ा .  
 खाने को था दिग्दैत्य सड़ा !  
 या सोच यही मुख-सरसिज को,  
 किस भाँति दिखऊँगा निज को ?  
 इसलिए श्यामता लाता था—  
 उसमे निज मूर्ति छिपाता था।  
 उर विकल हुआ क्या करता था ?  
 साँसे शरीर में भरता था।

सन्देश सुनाये विना कही ,  
गिर जाय न हा । यह देह यही ।

जब रजनी आकर प्राप्त हुई ,  
वाहर ही साँझ समाप्त हुई ,  
नीरव गति से, उदास उर मे ,  
तब सचिव प्रविष्ट हुए पुर मे ।  
थी गड़ी पुरी भी काली - सी ,  
( जगती थी जहाँ दिवाली-सी । )  
खोले थी मानो केज पुरी ,  
खोले थी विधवा - वेश पुरी ।  
क्या घुसे सुमन्त्र रसातल मे ?  
रु रु उठो साँस भी पल पल मे ।  
यह तमी हटेगी क्या न कभी ,  
पी यहाँ फटेगी क्या न कभी ?  
मव चौक वन्द थे, पथ सूनें ,  
हो गई अमावस - सी पूने ।  
रहती जो गीत - गुजरित - सी ,  
गृह-राजि आज थी स्तम्भित-मी ।

पुर - रक्षक नीग्व फिस्ते थे ,  
 आसू अमात्य के गिरते थे ।  
 “हो चुकी लूट घर को गहरी ,  
 अब किसे रखाते हैं प्रहरी ?”  
 उत्तर मे ‘नही’ सुने न वही ,  
 इसलिए “राम लींटे कि नही ?”  
 यह पूछ न सके सचिव - वर से ,  
 पुरवासी मौन रहे डर से ।  
 नीरवता ही अमात्य वर की ,  
 थो शोन - सूचना उत्तर की ।  
 कोई अनिष्ट कहते - कहते ,  
 बहुधा मनुष्य चुप ही रहते ।  
 रथ देव सभी ने सीस घुना ,  
 ऊपर अमरो ने स्पष्ट मुना ,—  
 ‘क्या फिरे हमारे आर्य नही ?’  
 सुर बोले—‘या सुर - कार्य बती ।’  
 देवों के वाक्य मुधा - सीचे ,  
 सुन पडे न उमी समय नीचे ।  
 वे बोलाहल मे लीन हुए ,  
 पुरवासी दुख से दीन हुए ।

करके सुमन्त्र ने सिर नीचा ,  
 आँखों को एक वार मीचा ।  
 जिस रथ पर थे प्रसून भडते ,  
 उसपर थे ग्राज अश्रु पडते ।

जब नृप समीप उपनीत हुए ,  
 तब शोक भूल वे भीत हुए ।  
 “यह पोत डूब ही जावेगा—  
 या कूल किनारा पावेगा ?”  
 गजराज पंक में धँसा हुआ ,  
 छटपट करता था फंसा हुआ ,  
 हयनियाँ पास चिल्लाती थी ,  
 वे विवश विकल विल्लाती थी ,  
 बोले नृप—“राम नहीं लौटे ?”  
 गूँजा सब घाम—“नहीं लौटे ।”  
 नृप ने शसंक जो कुछ पूछा ,  
 वस उत्तर हुआ वही छूँछा ।  
 यद्यपि सुमन्त्र ने कुछ न कहा ,  
 प्रतिनाद तदपि नीरव न रहा ।

पर सचिव-मौन ही अधिक खला ,  
 भर आया सूखा हुआ गला ।  
 बोले फिर वे कि—“कहाँ छोड़ा ?  
 ले :चलो मुझे कि जहाँ छोड़ा ।  
 मुझको भी वही छोड़ आओ ,  
 वह रामचन्द्र मुख दिखलाओ ।”

टूटी महीप की हृत्तन्त्री ,  
 बोले विषाद पूर्वक मन्त्री—  
 “हे आर्य राम - मुख देखोगे ,  
 दुख देख क्या न सुख देखोगे ?  
 आवेंगे वे यश को लेकर ,  
 सुख पावेंगे तुमको देकर ।  
 नभ मे भी नया नाम होगा ,  
 पर चिन्ता से न काम होगा ।  
 गवसर ही उन्हें मिलावेगा ,  
 यह शोक न हमें जिलावेगा ।  
 राघव ने हाथ जोड़ करके ,  
 तुमसे यह कहा धैर्य धरके—

‘आता है जी मे तात यही —  
 पीछे पिछेल व्यवधान मही—  
 कब लौटूं चरणो म आकर,  
 सुख पाऊं सम्पन्न पाकर ।  
 पर धम रोज़ता है वन मे,  
 करना न सोच मेरा मन मे ।  
 देगा मुझको विश्रान्ति वही,  
 दे तात तुम्हे भी शान्ति वही ।’ ”

✓ “क्या शान्ति ? शान्ति, हा शान्ति कहाँ ?  
 वन गई केकयी क्रान्ति यहाँ ।  
 हो गया पुण्य ही पाप मुझे,  
 दे रहा धम ही ताप मुझे ।  
 कुछ नहीं कहा क्या सीता ने,  
 वैदेही वधू विनीता ने ?”

✓ बोले सुमन्त्र—“वे कह न सकी,  
 कहने जाकर भी जकी, थकी ।  
 साकेतस्मृति मे मग्न हुई,  
 करके प्रणाम भूल गयी हुई,  
 फिर नभ की ओर हाथ जोड़े,  
 दृग सजल हुए थाड़े थाड़े ।

आँसू वरोनियो तक आये,  
 नीचे न किन्तु गिरने पाये।  
 जा खड़ी हुईं पनि क पीछे।  
 ज्यो मुक्ति महा यति के पीछे।”  
 नृप रोने लगे—‘हाय ! सीते,  
 हम हैं बठोर अब भी जीते।  
 सहकर भी घोर वष्ट तन पर,  
 आया न मेल तेरे मन पर।  
 गृह-योग बने है वनस्पृही,  
 वन-योग्य हाय ! हम बने गृही।  
 हे विधे, व्यतिक्रम यह तेरा,  
 किसलिए बता श्रम यह तेरा ?  
 यदि मन्थरा न पहचान सकी,  
 तो क्यों न बैकयी जान सकी ?  
 कोई उससे जा बहे अभी,—  
 ले, तेरे वण्टक टले सभी !”  
 बोले सुमन्त्र सहसा कि “हहा—  
 लक्ष्मण ने भी है यही कहा।”  
 भूपति को जीवन भार हुआ,  
 बस यह अन्तिम उद्गार हुआ—



"मेरे करयुग हे टूट चुके ,  
 कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके ।  
 आँखों को पुनली निकल पडो ,  
 वर्र यही कही है विकल पडो !  
 खाकर भी वार वार भटके—  
 क्यों प्राण अभी तक है अटके ?  
 हे जोव चलो अब दिन बीते ,  
 हा राम, राम लक्ष्मण सीते !"

वस, यही दीप - निर्वाण हुआ ,  
 सुत-विरह वायु का वाण हुआ ।  
 धुंधला पड गया चन्द्र ऊपर ,  
 कुछ दिखलाई न दिया भू पर ।  
 अति भीषण हाहाकार हुआ ,  
 सूना - सा सब ससार हुआ ।  
 { अर्द्धांग रानियाँ शोककृता ,  
 } मूर्च्छिता हुई या अर्द्ध - मृता ?  
 हाथों से नेत्र बन्द करके ,  
 सहसा यह दृश्य देख डरके ,

‘हा ग्यामी !’ तू ऊँचे दर में,  
 दूरी मुमन्य मानो दर में।  
 अनुत्तर घनाय - ने रोते थे,  
 जो थे पणोर मज होते थे।  
 ये भूत गभाते हितारी,  
 गली पणितार भार धारी।

“नौ, कही नरे वे पूज्य पिता ?”  
 पणोर पुताय दो शौर - निता,  
ऊमिता सभी गुण - युग स्वामे,  
जा गिरी नरयो में धामे !  
 कैंतेगो ता मुहँ भी न गुता,  
 पताग - शरीर हित न गुता।  
 कम पट - मो नई बटी धर्मे,  
 नानी धी नई जती धर्मो।  
 रोना उमारी उपहास रूपा,  
 निज कृप बंधन्य - विषम रूपा।  
 तब यह पपने में धार उगी,  
 किम पुनमय में नन्दरा मरी !

भूपति-पद का विच्छेद हुआ ,  
 यह मुनकर जिसे न सेद हुआ ?  
 नभ भी रोया चुपचाप हहा ।  
 हिम-कण-मिस अश्रु-मसूह बहा ।  
 दानव-भय-हारी देह मिटा ,  
 वह राजगुणों का गेह मिटा ।  
 ऊपर सुरांगनाएँ रोई ,  
 भू पर पुरागनाएँ रोई !  
 थे मुनि वसिष्ठ तत्त्वज्ञानी ,  
 पर व्यथा उन्हेनी भी मानी ।  
 होकर भी जन्म - मृत्यु सगी ,  
 रजते हैं भिन्न भाव - भंगी ।  
 वह डील अपूर्व मनोहारी ,  
 हेमाद्रि - शृंग - समताकारी ,  
 रहता जो मानो सदा सड़ा ,  
 या आज निरा निश्चेष्ट पड़ा ।  
 मुग पर थे शोर-चिह्न अब भी ,  
 नृप गये, न भाव गये तब भी !  
 या शमीलिए थे थे सोये ,  
 गत मिलें स्वप्न में ही गोये !

मुहँ छिपा पदों मे प्रिय पति के ,  
 आधार एक जो थे गति के ,  
 कर रही विलाप रानियाँ थी ,  
 जीवन-धन-मयी हानियाँ थी ।  
 देखा वसिष्ठ ने और कहा—  
 “क्षर देह यही का यही रहा ।  
 वह आस-शृङ्खला टूट गई ,  
 आत्मा बन्धन से छूट गई !”  
 बोले सुमन्त्र कातर होकर—  
 “क्या हुआ देखिए, यह गुरुवर !  
 हा ! अमर-पूज्य इस भाँति मरे !  
 सुत चार कहाँ जो क्रिया करें ?”  
 देकर धीरे मुनि ने ज्ञान के प्रस्ताव से ,  
 मे रखवा दिया नृप-शव सुरक्षित भाव से ।  
 भेजे दक्ष फिर सन्देश के अक्षर गिना—  
 बुला लावें भरत को प्रकृत वृत्त कहे विना ।

इस शोक के सम्बन्ध से—

सब देखते थे अन्ध से—

वस एक मूर्ति घृणामयी ,

वह थी कठोरा केकयी !

## सप्तम सर्ग

‘स्वप्न’ विमका देखकर सविलास—  
कर रही है कवि-कला कल-हास ?  
और ‘प्रतिमा’ भेट किसकी भास,  
भर रही है वह करुण-निःश्वास ?

द्युम्न भी है, भिन्न भी है, हाय !  
क्यों न रोवे लगनी निरुपाय ?  
क्यों न भर घाँगू बहावे नित्य ?  
गोचर कमरे, गरम रख साहित्य !

जानकर क्या शून्य निज साकेत ,  
 लौट आये राम अनुज-समेत ?  
 या उन्हीके अन्य रूप अनन्य ,  
 ये भरत-शत्रुघ्न दोनो धन्य ?  
 क्यो हुए है ये उदास अशान्त ?  
 शीघ्र याना ने किया है क्लान्त ?  
 या शशी मे ज्यो मही की म्लानि ,  
 /दूर भी विम्बित हुई गृह-ग्लानि ?

“सूत, रथ की गति करो कुछ मन्द ,  
 अश्व अपने से चले स्वच्छन्द ।  
 अनुज, देखो, आ गया साकेत ,  
 दोखते हैं उच्च राज-निवेत ।  
 काम्य, कबुर, केतु-भूषित अट्ट ,  
 गगन मे ज्यो सान्ध्य धन सघट्ट ।  
 अवनि-पुण्याकृष्ट, लोक-ललाम ,  
 मौन खिच आया यथा सुरधाम ।  
 किन्तु करते हाय । आज प्रवेश ,  
 काँपता है क्यो हृदय सविशेष ।

जान पड़ता है, न जाकर आप ,  
 मैं खिचा जाता, खिंचे ज्यो चाप !  
 जब उमड़ना चाहिये आल्लाह ,  
 हो रहा है क्यो मुझे अवसाद ?  
 निकट ज्यो ज्यो आ रहा है गेह ,  
 सिहरती है क्यो न जाने देह !  
 वन्दु, दोनो ओर दो तुम ध्यान ,  
 आ गये ये बाह्य नगरोद्यान ।  
 हो रही सन्ध्या अभी उपलब्ध ,  
 किन्तु मानो अर्द्धनिशि निस्तब्ध !  
 नागरिक - गण - गोष्ठियो से हीन ,  
 आज उपवन हैं विजन मे लीन ।  
 वृक्ष मानो व्यर्थ बाट निहार ,  
 भँप उठे हैं भीम, भुरु, धक, हार !  
 कर रही सरयू जिसे कुछ रुद्ध ,  
 वह रही है वायु - धारा शुद्ध ।  
 पर किसे है आज इमको चाह ?  
 भर रही यह आप ठण्डी आह ,  
 जा रहा है व्यर्थ गुरभि - समीर ,  
 हैं पडे हत - से सरो के तीर !

देखकर ये रिक्त क्रीड़ा क्षेत्र ,  
 हैं भरे आते उमड़कर नेत्र ।  
 याद है, घुड़दौड़ का वह खेल ,  
 हँस मुझे जब हाथ से कुछ ठेल ,  
 हय उड़ाकर, उछल आप समक्ष ,  
 प्रथम लक्ष्मण ने घरा ध्वजलक्ष ?  
 दीख पड़ते हैं न मादी आज ,  
 गज न लाते हैं निपादी आज ,  
 फिर रही गायें रँभाती दूर ,  
 भागते हैं श्लथ-शिल्लण्ड मयूर ।  
 पार्श्व में यह गिसकतो-सी आप ,  
 जा रही सरयू वही चुपचाप ।  
 चल रही नावें न उसमें तैर ,  
 लोग करते हैं न तट पर सैर ।  
 कुछ न कुछ विघटित हुआ विभ्राट ,  
 विप्र-पक्ति-विहीन है सब घाट ।  
 क्या हुआ सन्ध्यार्घ्य का वह ठाठ ?  
 सुन नहीं पड़ता कहीं श्रुति-पाठ !  
 ये तरणि अपने अतुल कुल-भूल ,  
 सुरस देते हैं जिन्हें युग ब्रूल ।



उदित थे जिस लालिमा के सग ,  
 अस्त भी है रख वही रस - रग ।  
 आयेंगे फिर ये इसी विध कल्य ,  
 जन्म - जीवन का यहो साफल्य  
 नमन तुमको देव, निज कुलकेतु ,  
 तुम तपो चिरकाल इस भव-हेतु ।  
 मानते हैं अनुज, अपने ज्येष्ठ ,  
 मुक्ति से आवागमन यह श्रेष्ठ ।  
 घडकता है किन्तु मेरा चित्त ,  
 डकता है भावना का पित्त ।  
 निकट हो दिनरात - सन्धि सहर्ष ,  
 किन्तु जँचता है मुझे सधर्ष ।  
 दीक्षता है अन्धकार समीप ,  
 भीत मत हो, आयें हैं कुल-दीप ।”

तब कहा शशुभ ने भर आह—  
 “था कहाँ मेरा विचार - प्रवाह ।  
 घर पहुँचकर, कल्पना के साथ ,  
 हो रहा था मैं सहर्ष सनाथ ।

पूछते थे कुशल मानो तात ,  
 प्रेम - पूर्वक भेटते थे भ्रात ।  
 बढ रहा था जननियो का मोद ,  
 हंस रही थी भाभियाँ सविनोद ।  
 कह यहाँ के वृत्त सहचर बाल ,  
 पूछने थे सब वहाँ के हाल ।  
 प्राप्त मातुल से हुए जो द्रव्य ,  
 था अमात्यो की वही सब ध्रुव्य ।  
 सब हमे नव, हम सभीको नव्य ,  
 हो रहे थे ज्ञात किनने भव्य ।  
 वेप - भापा - भगियो पर हास्य ,  
 कर रहे थे सरम मवके आम्य ।  
 हम अतिथि से थे स्वगृह मे आज ,  
 सम्मिलित था क्या अपूर्व ममाज ।  
 हो रहा था हर्ष, उत्सव, गान ,  
 और सखा सग भोजन - पान ।  
 पर निरख अब दृश्य ये विपरीत ,  
 हो उठा है आर्य्य, मैं अति भीत ।  
 जान पडता है, पिता सविशेष ,  
 रुग्ण होकर पा रहे हैं वनेश ।”

‘रुग्ण ही हो तात हे भगवान ।’  
 भरत सिहरे शफर-वारि-समान ।  
 ली उन्होने एक लम्बी मांस ,  
 हृदय मे मानो गडो हो गांस ।

“मृत तुम खीचे रहो कुछ रास ,  
 कर चुके हैं अश्व प्रति आयास ।  
 या कि ढीली छोड दो, हा हन्त ,  
 हो किमी विच इस अगति का अन्त ।  
 जब चले थे तुम यहाँ से दूत ,  
 तब पिता क्या थे अधिक अभिभूत ?  
 पहुँच ही अब तो गये हम लोग ,  
 ठीक कह दो, था उन्हें क्या रोग ?”  
 दूत बोला उत्तरीय समेट—  
 “कर मका था मैं न प्रभु से भेट ।  
 आप आगे आ रहा जो धीर ,  
 आप हो उसके लिए न अधीर ।”

प्राप्त इतने मे हुआ पुर-द्वार ,  
 ग्रहरियो का मौन विनयाचार ।

देखकर उनका गभीर विपाद,  
 भरत पूछ सके न कुछ सवाद।  
 उभय ओर सुहृद पुलिनाकार,  
 दीच में पथ का प्रवाह-प्रसार।  
 बढ चला निःशब्द-मा रथ-पोत,  
 था तरंगित मानसिक भी स्रोत।  
 उच्च थी गृहराजि दोनों ओर,  
 निबट था जिसका न ओर न छोर।  
 राजमार्ग-वितान-सा था व्योम,  
 छन-सा ऊपर उदित था सोम।

“क्या यही साकेत है जगदीश !  
 थी जिसे अलका भुकाती शीश।  
 क्या हुए वे नित्य के आनन्द ?  
 शान्ति या अवसन्नता यह मन्द ?  
 है न क्रय-विक्रय, न यातायात,  
 प्राणहीन पडा पुरी का गात।  
 सुन नही पडती रुही कुछ बात,  
 सत्य ही क्या तब नही हैं तात ?

आज क्या साकेत के सब लोग ,  
 साग कर अपने अखिल उद्योग ,  
 शान्त हो बैठे सहज ही शान्त ?  
 दीखते हैं किन्तु क्यो उदुभ्रान्त ?  
 सब कला-गृह शिक्षणालय बन्द ,  
 छात्र क्यो फिरते नही स्वच्छन्द ?  
 हो रहे बालक बँधे - से कीर ,  
 बाल्य ही मे वृद्ध - सम गम्भीर !  
 भ्रिमिट आते हैं जहाँ जो लोग ,  
 अकट कर कोई अकथ अभियोग ,  
 मौन रहते हैं खड़े बेचैन ;  
 सिर झुकाकर फिर उठाते है न ।'

चाहते थे जन—करे आक्षेप ,  
 दीखते थे पर भरत निर्लेप ।  
 देख उनका मुख समक्ष समोह ,  
 भूल जाते थे सभी विद्रोह ।

"ये गगन - चुम्बित महा प्रासाद ,  
 मौन साधे हैं खड़े सविपाद ।

गिल्प - कीशल के सजीव प्रमाण ,  
 शाप से किसके हुए पापाण ।  
 आ खड़े हैं मेटने को आधि ,  
 आत्मचिन्तन-रत्न अचल ससर्माधि ,  
 विरणचूड, गवाक्ष - लोचन मीच ,  
 प्राण - से ब्रह्माण्ड मे निज स्त्रीच ?  
 सूत, मागध, वन्दि, याचन, भृत्य ,  
 दीन पडते हैं न करते घृत्य ।  
 एय प्रहरी हो, मनकं विशेष ,  
 व्यक्त करते हैं अशुभ उन्मेष ।”

“आगये ।” सहसा उठा यह नाद ,  
 वद गया अवराध तब सवाद ।  
 रथ रक्ता, उतरे उभय अविलम्ब ,  
 ले सचिव सिद्धार्थ कर अवलम्ब ।  
 “हो गये तुम जीर्ण ऐसे तात ।  
 मैं सुनूंगा क्या भयानक बात ?”  
 मुहं छिपा मचिबाक मे तत्काल ,  
 हो गये चुप भरत आसू डाल ।

सचिव उनको एक वार विलोक ,  
 ले चले, आँसू किसी विध रोक ।  
 “मैं कहूँ तुमसे भयानक बात ?  
 राज्य भोगो तुम जयी-कुल-जात !”  
 भरत को क्या ज्ञात था वह भेद ,  
 तदपि बोले वे सशक, सत्प्रेम—  
 “तात कैसे है ?” सचिव की उक्ति—  
 “पा चुके वे विश्व-वाधा-मुक्ति ।”  
 “पर कहाँ हैं इस समय नरनाथ ?”  
 सचिव फिर बोले उठाकर हाथ—  
 “सब रहस्य जहाँ छिपे है रम्य ,  
 योगियों का भी वहाँ क्या गम्य ?”  
 “किन्तु उनके पुत्र है हम लोग ,  
 मार्ग दिखलाओ मिले शुभ योग ।”  
 “मार्ग है शत्रुघ्न, दुर्गम सत्य ,  
 तुम रहो उनके यथार्थ अपत्य ।”

आगया शुद्धान्त का था द्वार ,  
 एक पद था देहली के पार ।

“हा पितः!” सहसा चिहूँक, चीन्कार,  
गिर पड़े सुकुमार भरत कुमार !

केकयी बड़ मन्थरा के साथ,  
फेरने उनपर लगी भट हाथ ।  
रह गये शत्रुघ्न मानो भूक;  
कण्ठरोधक थी हृदय की हूक,  
देर में निक्ली गिरा—“हा अम्ब !  
आज हम सबके कहाँ अवलम्ब ?  
देखने को तात शून्य निकेन,  
क्या बुलाये हम गये साकेत ?”  
सिहरकर गिरते हुए से काँप;  
बैठ वे नीचे गये मुहँ ढाँप ।  
“वत्स, स्वामी तो गये उस ठौर,  
लौटना होगा न जिससे और !”  
“कौन था हमसे अधिक हा शोक !  
वे गये जिसके लिए उस लोक ?  
हृदय, आशंका हुई क्या ठीक,  
होगई आशा अशेष अलीक !”



/“मैं स्वयं पतिघातिनी हूँ हाय !  
 जीव जीवन-मृत्यु का व्यवसाय !”  
 “हा ! अमर भी मृत्यु-करगत जीव !  
 मुक्त होकर भी अधीन अतीव !  
 किन्तु साधारण न थी वह व्यक्ति ,  
 अतुल थी जिसकी अलौकिक शक्ति ।  
 जीर्ण तुमको जान सहसा तात !  
 कर गया क्या काल यह अपघात] ?  
 तो धरा-धन हो भले ही ध्वस्त ,  
 आर्य, हो जाओ तनिक आश्वस्त ।  
 हम करेंगे काल से संग्राम ,  
 है कहाँ अग्रज हमारे राम ?”  
 “है कहाँ वे सजल धन-सम श्याम ?”  
 वन न था हा ! किन्तु वह था घाम ?  
 “वन गये वे अनुज-सीता-युक्त !”  
 “वन गये ?” बोले भरत भययुक्त ।  
 “तो संभालेगा हमें अब कौन ?  
 यो अनाश्रित रह सका कब कौन ?”  
 “आर्य का औदास्य यह अवलोक ,  
 सहम-सा मेरा गया पितृ -शोक !”

"अनुज, ठहरो, मैं लगा दूँ होड ,  
 रह सकें यदि आर्य हमको छोड ।  
 जायँ वे इस गेह ही से रूठ ,  
 यह असम्भव, भूठ निश्चय भूठ ।  
 हंस रही यह मन्थरा क्यों घूर ?  
 री अभागिन ! दूर हो तू दूर ।  
 भेद है इसमें निहित कुछ गूढ ,  
 मैं कहो, मैं हो रहा हूँ भूढ ।"  
 "वत्स, मेरा भी इसीमें सार,—  
 जो किया, कर लूँ उसे स्वीकार ।  
 साक्षि हो अनपेक्ष्य मेरे अर्थ ,  
 सत्य कर दे सर्व सहन-समर्थ ।  
 तो मुनो, यह क्यों हुआ परिणाम,—  
 प्रभु गये सुर-धाम, वन को राम ।  
 माँग मैंने ही लिया कुल-वैतु ,  
 राजसिंहासन तुम्हारे हेतु ।"

"हा हतोस्मि ।" हुए भरत हतबोध ,  
 'हूँ' कहा शत्रु ने सक्रोध ।

ओठ काटा और पटका पैर ,  
 किन्तु लेता वीर किससे बैर ?  
 केकयी चिल्ला उठी सोन्माद—  
 "सब करें मेरा महा अपवाद ;  
 किन्तु उठ ओ भरत, मेरा प्यार ,  
 चाहता है एक तेरा प्यार ।  
 राज्य कर, उठ वत्स, मेरे बाल ,  
 मैं नरक भोगूं भले चिरकाल ।  
 दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप ,  
 दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप ।"  
 "दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?  
 पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?  
 घोर नरकानल चिरन्तन चण्ड ,  
 किन्तु वह तो है यहाँ हिम-खण्ड ।  
 चण्डि ! सुनकर ही जिसे, सातक ,  
 चुभ उठें सौ विच्छुओं के डक ।  
 दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ?  
 है तुषानल तो कमल-दल-तल्प ?  
 जी, द्विरसने ! हम सभीको मार ,  
 कठिन तेरा उचित न्याय-विचार ।

मृत्यु ? उसमे तो सहज ही मुक्ति ,  
 भोग तू निज भावना की भुक्ति ।  
 धन्य तेरा क्षुधित पुन - स्नेह ,  
 सा गया जो भूतकर पति - देह ।  
 ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त ,  
 और नाचे निज दुराशय - दृष्ट ।”  
 “चुप अरे चुप, केकयी का स्नेह  
 जान पाया तू न निस्सन्देह ।  
 पर वही यह वत्स, तुझमे व्याप्त ,  
 छोड़ता है राज - पद भी प्राप्त ।  
 सब करें मेरा महा अपवाद ,  
 किन्तु तू तो न कर हाय । प्रमाद ।  
 हो गये थे देव जीवन्मुक्त ,  
 उचित था जाना न ऋण-सयुक्त ।  
 ले लिए इस हेतु वर युग लभ्य ,  
 उचित मानेंगे इसे सब सभ्य ।  
 ‘वयः लिया’ वस है यही सब शल्य ,  
 किन्तु मेरा भी यही वात्सल्य ।”

✓ | “सब वचाती हैं सुती के गान ,  
 किन्तु देती हैं डिठोना मान ।

था न विस फल का तुझे अधिकार ?  
 सुत न था मैं एक, हम थे चार ।  
 राज सुख है बलि पुरुष का भोग ,  
 मूल्य जिसका प्राण का विनियोग ।  
 स्वार्थिनी तू कर सकेगी त्याग ?  
 राज्य मे घर से लगी हा आग ।  
 स्वप्न विसका देखते हैं लोग ,  
 जो तजे लोकार्थ निद्रा - योग ।  
 विन्तु करके, दूसरे का होम ,  
 पान करना चाहती तू सोम ।  
 हाय ! ऐसी तो न थी यह बुद्धि ,  
 क्या हुई तेरे हृदय की शुद्धि ?  
 और से करते हुए छल पाप ,  
 हम छले जाते प्रथम ही आप ।  
 सूर्यकुल मे यह कलक बठोर ।  
 निरख तो तू तनिक नभ की ओर ।  
 देख तेरी उग्र यह अनरीति ,  
 खस पडें नक्षत्र ये न समीति ।  
 भरत-जीवन का सभी उत्साह ,  
 हो गया ठंडा यहाँ तक आह ।

ये गगन के चन्द्रमणि-मय हार ,  
 जान पड़ते हैं ज्वलित अगार !  
 कीन समभोगा भरत का भाव—  
 जब करे माँ आप यो प्रस्ताव !  
 री, हुआ तुझको न कुछ सकोच ?  
 तू बनी जननी कि हननी, सोच !  
 इष्ट तुझसे दत्त - शासक - नीति ,  
 और मुझको लोक - सेवा - प्रीति ।  
 वेन होता योग्य जिसका जात ,  
 जड़भरत - जननी वही विख्यात !  
 व्यर्थ आशा, व्यर्थ यह ससार ।"  
 रो दिया, हो मौन राजकुमार ।  
 थे भरे घन - से सड़े शत्रुघ्न ,  
 वरस अब मानो पड़े शत्रुघ्न,—  
 "तुम यहाँ थे हाय ! सोदरवर्य ,  
 और यह होता रहा, आश्चर्य !  
 वे तुम्हारे भुज - भुजंग विशाल ,  
 क्या यहाँ कीलित हुए उस काल !  
 राज्य को यदि हम बना लें भोग ,  
 तो बनेगा वह प्रजा का रोग ।

फिर कहूँ मैं क्यों न उठकर ओह !  
 आज मेरा धर्म राजद्रोह !  
 विजय मे बल और गौरव - मिटि ,  
 क्षत्रियो के धर्म - धन की वृद्धि ।  
 राज्य मे दायित्व का ही भार ,  
 सब प्रजा का वह व्यवस्थागार ।  
 वह प्रलोभन हो किसीके हेतु ,  
 तो उचित है क्रान्ति का ही केतु ।  
 दूर हो भ्रमता, विषमता, मोह ,  
 आज मेरा धर्म राजद्रोह ।  
 त्याग से भी कठिन जिसकी प्राप्ति ,  
 स्वार्थ की यदि हो उसी मे व्याप्ति ,  
 छोड़ दूँ तो क्यों न मैं भी छोह ?  
 आज मेरा धर्म राजद्रोह ।  
 दो अभीप्सित दण्ड मुझको अम्ब ,  
 न्याय ही शत्रुघ्न का अवलम्ब ,  
 मैं तुम्हारा राज्य - शासन - भार ,  
 कर नहीं सकता यथा स्वीकार ।  
 मानते थे सब जिसे निज शक्ति ,  
 वन गई अब राजभक्ति विरक्ति ।

हा ! अराजक भाव, जो था पाप ,  
 कर दिया है पुण्य तुमने आप ।  
 राज-पद ही क्यों न अब हट जाय ?  
 लोभ-मद का मूल ही कट जाय ?  
 कर सके कोई न दर्प न दम्भ ,  
 सब जगत में हो नया आरम्भ ।  
 विगत हो नर-पति, रहे नर मान ,  
 और जो जिस कार्य के हो पात्र—  
 वे रहे उसपर समान नियुक्त ,  
 सब जियें ज्यो, एक ही कुल भुक्त ।”  
 “अनुज, उस राजत्व का हो अन्त ,  
 हन्त ! जिसपर केकयी के दन्त ।  
 किन्तु राजे रामराज्य नितान्त—  
 विश्व के विद्रोह करके शान्त ।  
 ‘रघु-भगोरथ-सगर-राज्य-किरीट ,  
 केकयी का सुत भरत में ढीट—  
 यदि छुजँ तो पाप-कर गल जाय ,  
 या वही अनुताप से जल जाय ।  
 तात, राज्य नहीं किसीका वित्त ,  
 वह उन्हीके सौख्य-शान्ति-निमित्त—



स्ववलि देते है उसे जो पात्र,  
नियत शासक लोक-सेवक मात्र !”

“आर्य, छाती फट रही है हाय ।  
राज्य भी अब तो बना व्यवसाय ।  
हम उसे लें बेचकर भी धर्म,  
अतुल कुल में आज ऐसा कर्म ।  
भ्रातृ-निष्कासन, पिता का घात,  
हो चुके दो दो जहाँ उत्पात,  
और दो हो—मातृवध, गृहदाह !  
बस यही इस चित्त की अब चाह !  
पूर्ण हो दुरदृष्ट तेरो तुष्टि !”  
वीर ने मारी हृदय पर मुष्टि ।  
उठ भरत ने धर लिया भट हाथ,  
और वे बोले व्यथा के साथ—  
“हाय ! मारोगे किसे हे तात,  
मृत्यु निष्कृति हो जिसे हे तात ?  
छोड़ दो इसको इसी पर वीर,  
आर्य-जननी-और आओ धीर !”

युगल कण्ठो से निकल अविलम्ब  
 अजिर मे गूँजी गिरा—“हा अम्ब !”  
 शोक ने ली अफर आज डकार—  
 वत्स हम्बा कर उठे डिडकार ।  
 सहन कर मानो व्यथा की चोट ,  
 हृदय के टुकड़े उड़े सस्फोट—  
 “तुम कहाँ हो अम्ब, दीना अम्ब ।  
 पति - विहीना, पुत्र - हीना अम्ब ।  
 भरत—अपराधी भरत—है प्राप्त ,  
 दो उसे आदेश अपना प्राप्त ।  
 आज माँ, मुझ-सा अधम है कौन ?  
 मुहँ न देखो, पर न हो तुम मौन ।  
 प्राप्त है यह राज्यहारी चोर ,  
 दूर से पडयन्नकारी घोर ।  
 प्रागया मैं—गृहकलह का मूल ,  
 दण्ड दो, पर दो पदो की धूल ।”

“भूठ यह सब भूठ, तू निष्पाप ,  
 साक्षिणी तेरी यहाँ मैं आप ।

भरत मे अभिसन्धि का हो गन्ध ,  
 तो मुझे निज राम की सौगन्ध ।  
 केकयी, सुन लो बहन यह नाद ,  
 ओह ! कितना हर्ष और विपाद !”  
 पूर्ण महिषी का हुआ उत्सग ,  
 जा गिरा शवरीशरार्त - कुरग ।  
 “वत्स रे आ जा, जुड़ा यह अरु ,  
 भानुकुल के निष्कलक मयक ?  
 मिल गया मेरा मुझे तू राम ,  
 तू वही है, भिन्न केवल नाम ।  
 एक सुहृदय, और एक सुगात्र ,  
 एक सोने के बने दो पात्र ।  
 अग्रजानुज मात्र का है भेद ,  
 पुत्र मेरे, कर न मन में खेद ।  
 केकयी ने कर भरत का मोह ,  
 क्या किया ऐसा बड़ा विद्रोह ?  
 भर गई फिर आज मेरी गोद ,  
 आ, मुझे दे राम का - सा मोद ।  
 निन्तु बेटा, होगई कुछ देर ,  
 सो गये हैं देव ये मुहं फेर !

हो गई है हृदय की गति भग्न ,  
 तदपि अब भी स्नेह में हैं मग्न ।  
 देख लो हे नाथ, लो परितोष ,  
 जननियो के जात हैं निर्दोष ।”  
 नाव में नृप किन्तु पाँव पसार ,  
 सुप्त थे भव-सिन्धु के पर-पार ।

“हा पिता, यो हो रहे हो सुप्त  
 क्या हुई वह चेतना चिरलुप्त ?  
 जिस अभागे के लिए यह काण्ड ,  
 आ गया वह भर्त्सना का भाण्ड !  
 शास्ति दो, पाओ अहो ! आरोग्य ,  
 मैं नहीं हूँ यो अभापण-योग्य ।  
 त्याज्य भी यह नीच हे नरराज ,  
 हो न अन्तिम वचन-वचित आज ।”  
 “राज्य तुमको दे गये नरराज ,  
 सुत, जलाजलि दो उन्हें तुम आज ।  
 दे तुम्हें क्या वत्स, मेरा प्यार ?  
 लो तुम्हीं अन्त्येष्टि का अधिकार ।

राज्य—”“हा ! वह राज्य बनकर काल,  
 भरत के पीछे पड़ा विकराल ।  
 यह अराजक उग्र आज नितान्त,  
 प्राण लेकर भी न होगा शान्त ।”

“वत्स, धीरे, कठिनता के साथ,  
 सो सके हैं, छटपटाकर नाथ ।  
 हो न जावे शान्ति उनकी भग,  
 धर्म पालो धीरता के सग ।  
 सगिनी इस देह की मैं नित्य,  
 साक्षि है ध्रुव, धरणि, अनिलादित्य ।  
 सुत, तुम्हारे भाव ये अविभक्त,  
 मैं स्वयं उनपर करूँगी व्यक्त ।”

“हाय ! मत मारो मुझे इस भाँति,  
 माँ, जियो, मैं जो सकूँ जिस भाँति ।  
 मैं सहन के अर्थ ही, मन-मार,  
 वहन करता हूँ स्वजीवन-भार ।  
 मैं जियूँ लोकापवाद - निमित्त,  
 तब न होगा तनिक प्रायश्चित्त ?  
 तुम सभी त्यागो मुझे यदि हाय !  
 तो मरूँ मैं भी न बयो निरुपाय ?

आर्य को तो मुहं दिखाने योग्य ,  
 रख मुझे ओ भाग्य के फल भोग्य ।”  
 'शोक से अति आर्त, अनुज समेत ,  
 'भरत यो कह हो गये हतचेत ।  
 लोटता हो ज्यो हृदय पर साँप ,  
 सभय कौशल्या, सुमित्रा काँप—  
 हाय कर, करने लगी उपचार—  
 व्यजन, सिंचन, परस और पुकार ।  
 आतृ युग संभले नयन निज खोल ,  
 पर सके मुहं से न वे कुछ बोल ।  
 देख सुत-हठ और बंदा-अरिष्ट ,  
 कह न माँएँ भी सकी निज इष्ट ।  
 आ गये तब तक तपोव्रतनिष्ठ ,  
 राजकुल के गुरु वरिष्ठ वसिष्ठ ।  
 प्राप्त कर उनके पदों की ओट ,  
 'रो पड़े युग बन्धु उनमें लोट—  
 “बया हुआ गुरुदेव, यह अनिवार्य ?”  
 “वत्स, अनुपम लोक-शिक्षण-कार्य ।  
 त्याग का संचय, प्रणय का पर्व ,  
 सफल मेरा सूर्यकुलगुरु-गर्व !”

“किन्तु मुझपर आज सागी मृष्टि,  
कर रही मानो घृणा की वृष्टि।  
देव, देखूँ मैं किधर, किस भाँति?”

“भरत, तुम आकुल न हो इस भाँति।  
वत्स, देखो तुम पिता की ओर,  
सत्य भी शव-सा अकम्प कठोर।  
और उनका प्रेम-ओघ अभग्न,  
वे स्वयं जिसमें हुए चिरमग्न।  
और देखो भ्रातृवर की ओर,  
त्याग का जिसके न ओर, न छोर।  
अतुल जितनी पुण्य पितर-प्रीति—  
स्वकुल-भर्यादा, विनय, नय नीति।  
और उम अग्रज-वधू की ओर,  
वत्स, देखो तुम निहार—निहोर।  
हाँ, जिसे वे गहन-वण्टक शूल,  
वन गये गृह-वाटिका के फूल।  
और देखो उस अनुज की ओर,  
आह! वह लाक्ष्मण्य कैसा घोर।  
वह विकट व्रत और वह दृढ़ भक्ति,  
एक में सबकी अटल अनुरक्ति।

और देखो इस अनुज की ओर ,  
 हो रहा जो शोक - मग्न विभोर ।  
 आज जो सबसे अधिक उद्भ्रान्त ,  
 सुमन - सम हिमवाष्प भाराक्रान्त ।  
 वत्स, देखो जननियो की ओर ,  
 आज जिनको भोग-निशि का भोर ।”  
 “हाय भगवन् ! क्यों हमारा नाम ?  
 अब हमें इस लोक में क्या काम ?  
 भूमि पर हम आज केवल भार ,  
 क्यों सहे ससार हाहाकार ?  
 क्यों अनाथों की यहाँ हो भीड़ ?  
 जीव-खग उड़ जाय अब निज नीड़ ।”  
 “देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य ,  
 भाव भव में कौन वैसा भव्य ?  
 धन्य वह अनुराग निर्गन्त - राग ,  
 और शुचिता का अपूर्व सुहाग ।  
 अग्निमय है अब तुम्हारा नाम ,  
 'दग्ध' हो जिसमें स्वयं सब 'काम' ।  
 सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ  
 'आयु भर स्वामि - स्मरण है' श्रेष्ठ ।



तुम जियो अपना वही व्रत पाल,  
 धर्म की बल-वृद्धि हो चिरकाल।  
 सहनकर जीना कठिन है देवि,  
 सहज मरना एक दिन है देवि !  
 भरत, देखो आप अपनी ओर,  
 निज हृदय - सागर गभीर हिलोर।  
 पूर्ण हैं अगणित वहाँ गुण-रत्न,  
 अमर भी जिनके लिए कृतयत्न।  
 भरत - भावामृत पियें जन जाग,  
 मोह - विष था केकयी का भाग।  
 वत्स, मेरी ओर देखो, ओह !  
 मैं सगद्गद हूँ, यदपि निर्मोह।  
 रो रहे हो तुम, परन्तु विर्नात,  
 गा रहे हैं सुर तुम्हारे गीत।  
 प्राप्त अपने आप हो यह राज्य,  
 कर दिया तृण-तुल्य तुमने त्याज्य।  
 मति यहाँ शत्रुघ्न, मेरी मोक्ष,  
 तुम कि लक्ष्मण, अधिक सुकृती बौन ?  
 अब उठो हे-वत्स, धीरज धार,  
 'बैठते हैं -वीर-कषा थक-हार?'

शत्रु-धर सम तुम सहो यह शोक ,  
 सतत कर्मक्षेत्र है नरलोक ।  
 कर पिता का मृत्युकृत्य अपत्य ,  
 लो क्रमागत गोत्र - जीवन - सत्य ।  
 मरण है अवकाश, जीवन कार्य ,  
 कह रहा है आप मैं आचार्य ।  
 व्याप्त हैं तुममे पिता के प्राण ,  
 शोक छोड़ो शूर पाओ आण ।  
 हम रुकें बयो, चल रही है साँस ,  
 गति न विगडे, दे नियति भी आँस ।  
 'विघ्न तो हैं मार्ग के कुश-काँस ,  
 फँस न पावे इस हृदय में फाँस ।  
 तात, जीवनगीत सुनकर काल  
 नाचता है आप, देकर ताल ।  
 सुगति होतो है तभी यह प्राप्त ,  
 प्रलय में भी लय रहे, निज व्याप्त ।  
 उठ खड़े हो निज पदों पर आज ,  
 धर्म धारें स्वजन और समाज ।  
 वीर देखो, उस प्रजा की ओर ,  
 चाहती है जो 'कृपा की कोर ।"

सान्त्वना मे शोक थी वह रात ,  
 कट चली, होने लगा फिर प्रात ।  
 दूर बोला ताम्रचूड गभीर—  
 'कर भी है काल निर्भर-नीर ।'  
 अरण-पूर्व उतार तारव हार ,  
 मलिन-सा सित-शून्य अम्बर धार ,  
 प्रवृत्ति - रजन - हीन दीन, अजस्र ,  
 प्रवृत्ति विधवा थी भरे हिम-अस्र ।

आज नरपति का महासस्कार ,  
 उमड़ने दो लोक - पारावार ।  
 है महायात्रा यही, इस हेतु ;  
 फहरने दो आज सी सी केतु ।  
 घहरने दो सधन दुन्दुभि - घोर ,  
 सूचना हो जाय चारो ओर—  
 सुवृत्तियों के जन्म मे भव-भुक्ति ,  
 और उनकी मृत्यु मे शुभ मुक्ति ।  
 अश्व, गज, रथ, हो सुसज्जित सर्व ।  
 आज है सुर-धाम-यात्रा-पर्व ।

सम्मिलित हो स्वजन, सैन्य, समाज ,  
 वस, यही अन्तिम विदा है आज ।  
 सूत, मागध, वन्दि, आदि अभीत ,  
 गा उठ जीवन - विजय के गीत—  
 तुच्छ कर नृप मृत्यु पक्ष समक्ष ,  
 पा गये है आज अपना लक्ष ।

राजगृह की वह्नि बाहर जोड़ ,  
 कर उठे द्विज होम—आहुति छोड़ ।  
 कुल - पुरोहित और कुल - आचार्य ,  
 भरत युत करने लगे सब कार्य ।  
 शव बना था शिव-समाधि-समान ,  
 था शिवालय - तुल्य शिविका यान ।  
 और जिनसे था वहन - सम्बन्ध ,  
 थे भरत के भव्य - भद्र - स्कन्ध ।  
 वज रहे थे भाँझ, भालर, शख ,  
 पा गया जयघोष अगणित पख ।  
 भाव - गद्गद हो रहे थे लोग ,  
 गा रहे थे, रो रहे थे लोग ।

वरसता था नेत्र-नीर नितान्त ,  
 मार्ग-रज-वर्ण थे प्रथम ही शान्त ।  
 पाँवडो पर बीच में शव - यान ,  
 उभय ओर मनुष्य - पक्ति महान ।  
 आज पैदल थे सभी सत्पात्र ,  
 बाहनो पर नृप - समादर मात्र ।  
 शेष - दर्शन कर सभक्ति, सयत्न ,  
 जन लुटाते थे वसन, धन, रत्न ।  
 आ गया सब सघ सरयू - तीर ,  
 करुण - गद्गद था सहज ही नीर ।  
 आप सरिता बीच - वेणी खोल  
 कर रही थी कल-विलाप विलोल ।  
 अग्र - चन्दन की चिन्ता थी सेज ,  
 राजशव था सुप्त सयत्न तेज ।  
 सरस कर भूतल, वरस एकान्त ,  
 क्षितिज पर मानो शरद-धन शान्त ।  
 फिर प्रदक्षिण, प्रणति जय जयकार ,  
 सामगान - समेत शुचि - सस्कार ।  
 वरसता था घृत तथा कर्पूर ,  
 सूर्य पर था एक लघु धन दूर ।

जागकर ज्वाला उठी तत्काल ,  
 विम्ब पानी मे पडा सुविशाल ।  
 फिर प्रदक्षिण कर तथा कर जोड  
 रो उठे यो भरत धीरज छोड—  
 "तात ! यह क्या देखता हूँ आज ?  
 जा रहे हो तुम कहाँ नरराज !  
 देव, ठहरो, हो न अन्तर्धान ,  
 चाहिए मुझको न वे वरदान ।  
 इस अधम की वाट तो कुछ देर ,  
 देखते तुम काल - कारण हेर ।  
 वन गये है आर्य, तुम परलोक ,  
 कौन समझे आज मेरा शोक ?  
 स्वर्ग क्या, अपवर्ग पाओ तात ,  
 पर बता जाओ मुझे यह बात—  
 राज्य - सग तुम्हे वहाँ से हाथ !  
 दे सकूंगा आर्य को अनुपाय ?  
 आज तुम नरराज, प्रभातीत ,  
 ये प्रजाजन ही कहे, नयनीत—  
 धन किसीका जो हरे क्रम - भोग्य ,  
 दण्ड क्या उसके लिए है योग्य ?

आह ! मेरी जय न बोलो हार ,  
 इस चिता ही मे बहुत अगार !  
 था तुम्हे अभिपेक जिनका मान्य ,  
 हैं कहाँ वे धीर - वीर - वदान्य ?  
 वन चलो सब पच मेरे साथ ,  
 हैं वही सबके प्रकृत नरनाथ ।  
 राज्य पालें राम जनकप्राय ,  
 राम का प्रतिनिधि भरत वन जाय ।  
 निज प्रजा-परिवार - पालन - भार ;  
 यदि न आर्य करें स्वयं स्वीकार ।  
 तो चुनो तुम अन्य निज नरपाल ,  
 जो किसी माँ का जना हो लाल ।  
 व्यर्थ हो यदि भरत का उद्योग ,  
 तो करें इतनी कृपा सब लोग—  
 'इस, पिता ही की चिता के पास ,  
 ( मुक्त अगति को भी मिले चिरवास !'

साथ ही आनन्द और विपाद ,  
 'जयभरत', 'जयराम' जय जय नाद !

लोटते थे पर भरत गति-हीन,  
 पितृ-चिता के पादतल में लीन।  
 दे रहे थे धैर्य लोग सराह,  
 विकल थे सब किन्तु आप कराह।  
 "भरत!" बोले गुरु—"भरत, हो शान्त,  
 जनकवर के जातवर, कुलवान्त !  
 कर चुके हो मृतजनक-सस्कार,  
 हत-जननियो का करो उपचार।  
 भेज यो पितृवन उन्हें सस्नेह,  
 पुत्र, इनको ले चलो अब गेह।"

बोले फिर मुनि यो चिता की ओर हाथ कर  
 "देखो सब लोग, ग्रहा ! क्या ही आधिपत्य है ?  
 त्याग दिया आप अज-नन्दन ने एक साथ,  
 पुत्र-हेतु प्राण, सत्य-कारण अपत्य है !  
 पा लिया है सत्य-शिव-सुन्दर-सा पूर्ण लक्ष  
 इष्ट हम सबको इसीका आनुगत्य है !  
 सत्य है स्वयं ही शिव, राम सत्य-सुन्दर हैं,  
 सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है !"



कण्ठ कण्ठ गा उठा ,  
 शून्य शून्य छा उठा—  
 सत्य काम सत्य है ,  
 !

‘उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को,  
 प्रणयप्राणा को और कान्तकाया को .  
 यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी  
 योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे  
 सीता माता थी आज नई धज धारे  
 अंकुर - हितकर थे कलश-पयोधर पावन  
 जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन  
 पहने थी दिव्य दुकूल अहा ! वे ऐसे  
 उत्पन्न हुआ हो देह-सग ही जैसे  
 कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से  
 थे पत्र - पुञ्ज में अलग प्रसून प्रकट - से !  
 कन्धे ढक्कर कच छहर रहे थे उनके ,  
 रक्षक तक्षक - से लहर रहे थे उनके ।  
 मुख धर्म-विन्दु-मय ओस-भरा अम्बुज-सा ,  
 पर कहां कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा  
 पाकर विशाल कच - भार एड़ियाँ धंसती ,  
 तब नखज्योति-मिष, मृदुल अंगुलियाँ हँसती ।

,पर पग उठने में भार उन्हीपर पड़ता ,  
 ,तब अरुण एडियो से मुहास-सा झड़ता ।  
 ,क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते ,  
 ,पद - पद्मों में मजीर - मराल मचलते ।  
 ,रुकने - भुकने में ललित लक लच जाती ,  
 ,पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती ।  
 ,तनु गौर केनकी - कुसुम - कली का गाभा ,  
 ,थो अग - सुरभि के सग तरंगित आभा ।  
 ,भौरो से भूषित कल्प - लता - सी फूली ,  
 ,गाती थी गुन गुन गान भान - सा भूली :—

"निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया ,  
 मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया ।

सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं ,  
 देते आकर आशीष हमें मुनिवर है ।  
 घत तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असह्य आकर हैं ,  
 पानी पीते मृग - सिंह एक तट पर हैं ।  
 , सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया ,  
 , मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया ।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा ,  
 पुष्पाकृति गुञ्जित कुञ्ज धना है मेरा ।  
 जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा ,  
 गढ़ चिाकूट दृढ-दिव्य वना है मेरा ।  
 ' प्रहरी निर्भर, परिखा प्रवाह की काया  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया

औरो के हाथो यहाँ नही पलती हैं ,  
 अपने पैरो पर खड़ी आप चलती हैं ।  
 श्रमवारिविन्दु फल स्वास्थ्यशुक्ति फलती हैं ,  
 अपने अचल से व्यजन आप झलती हैं ।  
 ' तनु-लता-सफलता-स्वादु आज ही आया ,  
 ' मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

जिनसे ये प्रणयी प्राण नाण पाते हैं ,  
 जी भरकर उनको देखा जुड़ा जाते हैं ।  
 जब देव कि देवर विचर-विचर आते है ,  
 तब नित्य नये दो एक द्रव्य लाते हैं ।  
 ' उनका चरण ही बना विनोद सुवाया ,  
 ' मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ ,  
 बुद्ध मुझमे सीगो और मुझे सिखलाओ ।  
 गाओ पिक, मैं अनुकरण करूँ, तुम गाओ ,  
 स्वर खींच तनिक या उसे घुमाते जाओ ।

शुब पडा —मधुरपत्रप्रथमतुम्हीनराया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

अपि गजहसि तू तन्म तरन क्यो रोती ,  
 तू शुक्ति - यचना बही मैथिली होती ,  
 तो प्रियमल ननु ते श्रमज-विन्दुमय मोती ,  
 निज व्यजन-पक्ष से तू अँकोर सुघ रोती ,—

जिनपर मानम ने पद्म-रूप मुहं धाया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

ओ निभर, भर भर नाद मुनाकर झड तूदे,  
 पय के रोडो ने उलझ-मुलझ, बढ-घड तू ।  
 ओ उत्तरीय, उट, मोद-पयोद, घुमट तू ,  
 हमपर गिन्नि-गदगद भाव, सदैव उमट तू ।

जीवन को तूने गीत बनाया, गाया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

ओ भोली कोल - किरात - भिहू वालाओ ,  
 मैं आप तुम्हारे यहाँ आगई, आओ ।  
 मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ ,  
 दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ ।

लो, मेरा नागर भाव भेट जो लाया ,  
 मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया ।

सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय में ,  
 उत्साह मुझे है विविध वृत्त - सचय में ।  
 तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में ,  
 आओ, हम कातें - बुनें गान की लय में ।

निक्ले फूलों का रंग, ढग में ताया ,  
 मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया ।”

ये समाधिस्थ - से राम अनाहत सुनते ,  
 स्वर पत्र पत्र पर प्रेम - जाल ये बुनते ।  
 कितने भीठे हैं, मरे वीन के झाले ,  
 तरु झूम रहे थे हरे - भरे मतवाले ।  
 “गाओ मैथिलि, स्वच्छन्द, राम के रहते ,  
 सुन ले कोई भी आज मुझे यह कहते—

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिग्वलाओ ,  
 कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ ।  
 गाथा पिक, मैं अनुकरणा करूँ, तुम गाओ ,  
 स्वर खीच तनिक यो उसे घुमाते जाओ ।

शुक पढो,—मधुरफल प्रथम तुम्हींने खाया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

अयि राजहसि तू तर्क तरफ क्यो रोती ,  
 तू शुक्ति - वचिता कही मैथिली होती ,  
 तो श्यामल तनु के श्रमज-विन्दुमय मोती ,  
 निज व्यजन-पक्ष से तू अँकोर सुध खोती,—

जिनपर मानस ने पद्म-रूप मुहं वाया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

ओ निर्भर, भर भर नाद सुनाकर झड तू ,  
 पथ के रोडो से उलझ-सुलझ, बढ-अड तू ।  
 ओ उत्तरीय, उड, मोद-पयोद, घुमड तू ,  
 हमपर गिरि-गद्गद भाव, सदैव उमड तू ।

जीवन को तूने गीत बनाया, गाया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

ओ भोली कोल - किरात - भिल्ल वालाओ ,  
 मैं आप तुम्हारे यहाँ आगई, आओ।  
 मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ ,  
 दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ।

लो, मेरा नागर भाव भेट जो लाया ,  
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया।

सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय मे ,  
 उत्साह मुझे है विविध वृत्त - सचय मे।  
 तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय मे ,  
 आओ, हम कातें - बुनें गान को लय मे।

निकले फूलो का रंग, ढग से ताया ,  
 मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।”

ये समाधिस्थ - से राम अनाहत सुनते ,  
 स्वर पत्र पत्र पर प्रेम - जाल ये बुनते।  
 कितने मीठे हैं, मरे वीन के झाले ,  
 तरु भूम रहे थे हरे - भरे मतवाले।  
 “गाओ मैथिलि, स्वच्छन्द, राम के रहते ,  
 सुन ले कोई भी आज मुझे यह कहते—



निश्चिन्त रहे, जो करे भरोसा मेरा,  
 वम, मिले प्रेम का मुझे परोसा मेरा।  
 आनन्द हमारे ही अधीन रहता है,  
 तब भी विपाद नरलोक व्यर्थ सहता है।  
 हरके अपना कर्त्तव्य रहो सन्तोषी,  
 फेर सफल हो कि तुम विफल, न होगे दोषी।  
 निश्चिन्त नारियाँ आत्म - समर्पण करके,  
 लोकृति में ही कृतकृत्य भाव हैं नर के।  
 गौरव क्या है, जन-भार वहन करना ही,  
 सुख क्या है, बढकार दुःख सहन करना ही।"  
 रुलिकाएँ खिलने लगी, फूल फिर फूले,  
 खग-मृग भी चरना छोड़ सभी सुध भूले।

सन्नाटे में था एक यही रव छाया—

“मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया !  
 देवर के द्वार की अनी बनाकर टाँकी,  
 मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।  
 आँसू नयनों में, हँसी वदन पर बाँकी,  
 काँटे समेटती, फूल छोटती भाँकी !

निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया !  
 मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।”

“हा ! ठहरो, वस, विश्राम प्रिये, लो थोड़ा ,  
 है राजलक्ष्मि, तुमने न राम को छोड़ा ।  
 श्रम करो, स्वेदजल स्वास्थ्य-मूल में ढालो ,  
 परतुम यति का भी नियम स्वगति में पालो ।  
 तन्मय हो तुम-सा किसी कार्य में कोई ,  
 तुमने अपनी भी आज यहाँ सुध खोई ।  
 हो जाना लता न आप लता - सलसा ,  
 करतल तक तो तुम हुई नवल-दल-मग्रा ।  
 ऐसा न हो कि मैं फिर खोजता तुमको ।  
 है मधुप ढूँढता यथा मनोज्ञ कुसुम को ।  
 वह सीताफल जब फल तुम्हारा चाहा ,—  
 मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा ।”  
 “तुम हँसो, नाथ, निज इन्द्रजाल के फल पर ,  
 पर ये फल होंगे प्रकट सत्य के बल पर ।  
 उनमें विनोद, इनमें यथार्थता होगी ,  
 मेरे श्रम फल के रहें सभी रम-भोगी ।  
 तुम मायामय हो तदपि बड़े भोले हो ,  
 हँसने में भी तो भूठ नहीं बोले हो ।  
 हो सचमुच क्या आनन्द, छिपूँ मैं वन में ,  
 तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में ।”

“आमोदिनि, तुमको कौन छिपा सकता है ?  
 अन्तर को अन्तर अनायास तकता है ।  
 बैठी है सीता सदा राम के भीतर,  
 जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर ।”

“अच्छा, ये पौधे कहो फलेंगे कब लौ ?  
 हम और कही तो नहीं चलेंगे तब लौ ?”  
 “पौधे ? सींचो ही नहीं, उन्हें गोडो भी,  
 डालो को चाहो जिघर, उघर मोडो भी ।”  
 “पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें ।  
 नृप में, माली में काट-छाँट की घातें ।  
 प्राणेश्वर, उपवन नहीं किन्तु यह वन है,  
 बढ़ते हैं विटपी जिघर चाहता मन है ।  
 बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है ?  
 देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है ।  
 इसको भी पुर में लोग बाँध लेते हैं ।”  
 “हाँ वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं ।”  
 “पर इससे नद का नहीं, उन्हीका हित है,  
 पर बन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है ?”

“मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूंगा ,  
 हित उसका उससे अधिक कौन जानूंगा ?  
 जितने प्रवाह है, वहे—अवश्य वहे वे ,  
 निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहे वे ।  
 केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी ,  
 है औरो की भी भार - धारिणी - भरणी ।  
 जनपद के वधन मुक्ति - हेतु हैं सबके ,  
 यदि नियम न हो, उच्छिन्न सभी हो वक्के ।  
 उसको पुरुषो की काट - छाँट है खलती ,  
 जो फूलों को चुन रग चुवाने चलती ।  
 ताओगी कैसे उन्हें, बताओ यह तो ?  
 कोमलता के उपमान अतुल हैं वह तो ।  
 इतनी निष्ठुरता, और उन्हीके ऊपर ,  
 जो शूलों के प्रतिकूल भाव - से भू पर ।”  
 “यह सग - दोष है, और क्या कहूँ तुमसे ,  
 मैं क्षमा-प्रार्थिनी आज अवश्य कुसुम से ।  
 पर जो उसका अनुराग, उसे स्थिर कर लूँ ,  
 वह आप अचिर क्यो न उसे चिर कर लूँ ।”  
 “वह राग-रग रच, लो सुहाग - अचल में ,  
 क्या कहना है, आ गई ठिकाने पल में ।

“ग्रामोदिनि, तुमको कौन छिपा सकता है ?  
 घन्तर गो घन्तर घनायास तकता है ।  
 बैठी है सीता सदा राम के भीतर,  
 जंमे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर ।”

“अच्छा, ये पौधे कहो फलेंगे कब लो ?  
 हम और कहीं तो नहीं चलेंगे तब लौं ?”  
 “पौधे ? सींचो ही नहीं, उन्हें गोड़ो भी,  
 ढालो को चाहो जिधर, उधर मोड़ो भी ।”  
 “पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें !  
 नृग में, माली में काट-छाँट की घातें ।  
 प्राणेश्वर, उपवन नहीं विन्तु यह वन है,  
 बढ़ते हैं विटपी जिधर चाहता मन है ।  
 बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है ?  
 देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है ।  
 इसको भी पुर में लोग बाँध लेते हैं ।”  
 “हाँ वे इसका उपयोग बढा देते हैं ।”  
 “पर इससे नद का नहीं, उन्हीका हित है,  
 पर बन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है ?”

“पर नद को ही, अवकाश कहाँ है इसका ?  
 सोचो, जीवन है श्लाघ्य स्वार्थमय किसका ?  
 करते है जब उपकार किसीका हम कुछ ,  
 होता है तब सन्तोष हमे क्या कम कुछ ?  
 ऐसा ही नद के लिए मानते है हम ,  
 अपना जैसा हो उसे जानते है हम ।  
 जल निष्फल था यदि तृपा न हममे होती ,  
 है वही उगाता अन्न, चुगाता मोती ।  
 निज हेतु बरसता नही व्योम से पानी ,  
 हम हो समष्टि के लिए व्यष्टि-वलिदानी ।”

“तुम इसी भाव से भरे यहाँ आये हो ?  
 यह धनश्याम - तनु घरे हरे, छाये हो ।  
 तो बरसो, सरसै, रहे न भूमि जली - मी ।  
 मैं पाप - पुञ्ज पर टूट पडूँ—विजली - सी ।”

“हाँ, इसी भाव से भरा यहाँ आया मैं ,  
 कुछ देने ही के लिए प्रिये, लाया मैं ।

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को ,  
 सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को ।



“पर नद को ही, अवकाश कहाँ है इसका ?  
 सोचो, जीवन है श्लाघ्य स्वार्थमय किसका ?  
 करते हैं जब उपकार किसीका हम कुछ ,  
 होता है तब सन्तोष हमें क्या कम कुछ ?  
 ऐसा ही नद के लिए मानते है हम ,  
 अपना जैसा हो उसे जानते है हम ।  
 जल निष्फल था यदि तृषा न हममें होती ,  
 है वही उगाता अन्न, चुगाता मोती ।  
 निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी ,  
 हम हो समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदानी ।”

“तुम इसी भाव से भरे यहाँ आये हो ?  
 यह घनश्याम - तनु धरे हरे, छाये हो ।  
 तो बरसो, सरसै, रहे न भूमि जली - सी ।  
 मैं पाप - पुञ्ज पर टूट पड़ूँ—विजली - सी ।”

“हाँ, इसी भाव से भरा यहाँ आया मैं ,  
 कुछ देने ही के लिए प्रिये, लाया मैं ।

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को ,  
 सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को ।



मैं आर्यों का आदर्श बताने आया ,  
 जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया ।  
 सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया ,  
 विश्वासी का विश्वास बचाने आया ।  
 मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं ,  
 जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं ।  
 हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित है ,  
 जो कौण्ण-कुल से मूक-सदृश सासित है ।  
 मैं आया, जिसमें बनी रहै मर्यादा ,  
 बच जाय प्रलय से, मिटै न जीवन सादा ।  
 सुख देने आया, दुःख भेलने आया ,  
 मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया ।  
 मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया ,  
 गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया ।  
 मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया ,  
 जगदुपवन के झखाड़ छाँटने आया ।  
 मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया ,  
 हसो की मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया ।  
 भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया ,  
 नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया !

। सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया ,  
 इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।  
 अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा ,  
 अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा ।  
 जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे ,  
 वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे ।  
 पर जो मेरा गुण, कर्म स्वभाव धरेंगे ,  
 वे श्रीरो को भी तार, पार उतरेंगे ।”  
 “पर होगा यह उद्देश्य सिद्ध क्या वन में ?  
 सम्भव है चिन्तन - मनन मात्र निर्जन में ।”  
 “वन में निज साधन सुलभ धर्म से होगा ,  
 जब मन से होगा तब न कर्म से होगा ?  
 बहु जन वन में है बने ऋक्ष - वानर - से ,  
 मैं दूंगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से ।  
 चल दण्डक वन में शीघ्र निवास करूँगा ,  
 निज तपोधनों के, विन्न विशेष हूँगा ।  
 उच्चारित होती चले वेद की वाणी ,  
 गूँजें गिरि - कानन - सिन्धु - पारकल्याणी ।  
 अम्बर में पावन होम - धूप घहरावे ,  
 वसुधा का 'हरा दुकूल भरा लहरावे

तत्वो वा चिन्तन करें स्वस्थ हो ज्ञानी ,  
 निर्विघ्न ध्यान मे निरत रहे सब ध्यानी ।  
 आहुतियाँ पड़ती रहे अग्नि मे क्रम से ,  
 उत तपस्त्याग की विजय-वृद्धि हो हमसे ।  
 मुनियो को दक्षिण देश आज दुर्गम है ,  
 बरबर कोणप - गण वहाँ उग्र यम - सम है ।  
 वह भीतिक मद से मत यथेच्छाचारी ,  
 भेटूंगा उसको कुर्गात - कुमति मैं सारी ।”

“पर यह क्या, खग-मृग भीत भगे आते है ,  
 मानो पीछे से व्याध लगे आते है ।  
 चर्चा भी अच्छी नहीं बुरो की मानो ,  
 साँपों की बातें जहाँ वही वे जानो ।  
 अस्फुट कोलाहल भरित मर्मरित वन है ,  
 वह घूलि - धूमरित उच्च गभीर गगन है ।  
 देखो, यह मेरा नकुल देहली पर से ,  
 बाहर की गति-विधि देख रहा है डर से ।  
 लो, ये देवर आ रहे बाढ के जल - से ,  
 पल पल मे उथले - भरे, अचल - चंचल से ।

होगी ऐसी क्या बात, न जानें स्वामी ,  
भय न हो उन्हें, जो सदैव पुण्य-पथ-गामी ।”

“भाभी, भय का उपचार चाप यह मेरा ,  
दुगुना गुणमय आकृष्ट आप यह मेरा ।  
कोटिक्रम - सम्मुख कौन टिकेगा इसके—  
आई परास्तता कर्म भोग में जिसके ।  
सुनता हूँ आये भरत यहाँ दल-वत से ,  
वन और गगन है विकल चमू-कलकल से ।  
विनयी होकर भी करें न आज अनय वे ?  
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वमातृजनय वे ;  
पर कुशल है कि असमर्थ नहीं हैं हम भी ,  
जैसे को तैसे, एक बार हो यम भी ।  
हे आर्य, आप गम्भीर हुए क्यों ऐसे—  
निज रक्षा में भी तर्क उठा हो जैसे ?  
आये होंगे यदि भरत कुमति-वश वन में ,  
तो मैंने यह सकल्प किया है मन में—  
उनको इस शर का लक्ष चुनूँगा क्षण मे,—  
प्रतिपेध आपका भी न भुनूँगा रण मे !”

“गृह-कलह शान्त हो, हाय ! कुशल हो कुल की,  
 अक्षुण्ण अतुलता रहै सदैव अतुल की ।  
 विग्रह के ग्रह का कोप न जानें अब क्यों,  
 आ बैठे देवर, राज्य छोड़ तुम जब यो ?”

“भद्रे, न भरत भी उसे छोड़ आये हों,  
 मातुश्री से भी मुहँ न मोड़ आये हों ।  
 लक्ष्मण, लगता है यही मुझे हे भाई,  
 पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई ।”  
 “आज्ञा अन्तःपुर-मध्यवासिनी कुलटा,  
 सीधे है आप, परन्तु जगत है उलटा,  
 जव आप पिता के वचन पाल सकते है,  
 तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते है ?”  
 “भाई, कहने को तर्क अकाट्य तुम्हारा,  
 पर मेरा ही विश्वास सत्य है सारा ।  
 माता का चाहा किया राम ने आहा !  
 तो भरत करेगे क्यों न पिता का चाहा ।”  
 “मानव-मन दुर्बल और सहज चंचल है,  
 इस जगती-तल में लोभ अतीव प्रबल है !

देवत्व कठिन, दनुजत्व मुलभ है नर को ,  
 नीचे से उठना सहज वहाँ ऊपर को ?”  
 “पर हम क्यों प्राकृत पुष्प आप को मानें ?  
 निज पुरुषोत्तम की प्रवृत्ति क्यों न पहचानें ?  
 हम मुगति छोड़ क्यों कुगति विचारें जन की ?  
 नीचे - ऊपर सर्वत्र तुल्य गति मन को ।”  
 “वम हार गया मैं आर्य आपके आगे ,  
 तब भी तनु मे दान पुलक भाव ये जामे ।”  
 “देवर, मैं तो जी गई, मरी जाती थी ,  
 विग्रह की दाम्पण भूति दृष्टि आती थी ।  
 अच्छा ले आये आर्यपुत्र, तुम इनको ,  
 ये तुम्हें छोड़ बच, कहाँ मानते किनको ?  
 सन्तोष मुझे है आज यहाँ देवर ये ,  
 हा ! क्या जानें क्या न कर बैठते घर ये ।”  
 “पर मैं चिन्तित हूँ, सहज प्रेम के कारण ,  
 हठपूर्वक मुझको भरत करें यदि वारण ?  
 वह देखो, वन के अन्तराल से निकले ,  
 मानो दो तारे क्षितिज-जाल से निकले ।  
 वे भरत और शत्रुघ्न, हमी दो मानो ,  
 फिर आया हमको यहाँ प्रिये, तुम जानो ।”

कहते - कहते प्रभु उठे, बढे वे आगे ,  
सीता - लक्ष्मण भी सग चले अनुरागे ।

देखी सीता ने स्वयं साक्षिणी हो हो ,  
प्रतिमाएँ सम्मुख एक एक धी दो दो !  
रह गये युग्म स्वर्वेद्य आप ही आधे ,  
जगतो ने ये निज चार चिह्नित्सव साधे ।  
दोनों आगत आ गिरे दण्डवत् नीचे ,  
दोनों से दोनों गये हृदय पर सीचे ।  
सीता - चरणामृत बना नयन - जल उनका ,  
इनका दृगम्बु अभिपेक सुनिर्मल उनका ।  
"रोकर रज मे लोटो न भरत, ओ भाई ,  
यह छाती ठडी करो सुमुख सुगदायी ।  
मानस के मोती यो न बिखेरो, आओ ,  
उपहार - रूप यह हार मुझे पहनाओ ।"  
"हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है ,  
उर रहते उर्वी उसे तुम्हीने दो है ।  
उस जड जननी का विकृत वचन तो पाला ,  
तुमने इस जन की ओर न देखा - भाला ।"

“ओ निदंय, कर दे न यो निरुत्तर मुझको ,  
 रे भाई, कहना, यही उचित क्या तुझको ?  
 चिरकाल राम है भरत - भाव वा भूखा ,  
 पर उसको तो कर्तव्य मिला है रजा ।”  
 इतने में कलकल हुआ वहाँ जय जय का ,  
 गुरुजन सह पुरजन-पच-सचिव-ममुदय का ।  
 हय-राज-रथादि निज नाद सुनाते आये ,  
 खोये - से अपने प्राण सभीने पाये ।  
 यथा ही विचित्रता चित्रकूट ने पाई ,  
 सम्पूर्ण अयोध्या जिसे खोजती आई ।  
 बढकर प्रणाम कर वसिष्ठादि मुनियो को ,  
 प्रभु ने आदर से लिया गृही मुनियो को ।

जिस पर पाले का एक पत - सा छाया ,  
 हत जिसकी पकज-पक्ति, अचल-सी काया ।  
 उस सरसी-सी, आभरणरहित, सितवसना,  
 “सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड रसना ।  
 “हा तात !” कहा चीत्कार समान उन्होंने,  
 “सीता सह लक्ष्मण लगे उसी क्षण रोने ।



उमड़ा माँग्री का हृदय हाय ! ज्यो फटकर,—  
 “चिर मौन हुए वे तात तुम्हीको रटकर ।”  
 “जितने आगत हैं रहे क्यो न गत-धर्मा,  
 पर मैं उनके प्रति रहा क्रूर ही कर्मा ।”  
 दी गुरु वसिष्ठ ने उन्हें सान्त्वना बढकर,—  
 “वे समुपस्थित सर्वत्र कीर्ति पर चढकर ।  
 वे आप उद्धरण ही नहीं हुए जीवन से,  
 उलटा भव को कर गये ऋणी निज धन से ।  
 वे चार चार दे गये एक के बदले,  
 तुम तक को यो तज गये टेक के बदले !  
 वे हैं अशोच्य, हाँ स्मरण-योग्य हैं सबके,  
 अभिमान-योग्य, अनुकरण-योग्य हैं सबके ।”  
 बोले गुरु से प्रभु साधुवदन, बद्धाजलि—  
 “दे सकता हूँ क्या उन्हें अभी श्रद्धाजलि ?  
 पितृ-देव गये हैं हाय ! तृपित हो सुरपुर !”  
 भर आया उनका गला, हुआ आतुर उर ।  
 फिर बोले वे—“क्या करूँ और मैं कहिए,  
 गुरुदेव, आप ही तात-तुल्य अब रहिए !”  
 “वह भार प्राप्त है मुझे प्रपूर्ण प्रथम ही,  
 हम जब जो उनके लिए करें, है कम ही ।”

“भगवन्, इस जन में भक्तिभाव अविचल है,  
 पर अर्पणार्थ वस पत्र-पुष्प - फल - जल है।”  
 “हा ! याद न आवे उन्हें तुम्हारे वन की ?”  
 प्रभु-जननी रोने लगी व्यथा से मन की।  
 “वे सब दुःखों से परे आज हैं देवी,  
 स्वर्गीय भाव से भरे आज हैं देवी।  
 उनको न राम - वनवास देख दुख होगा,  
 अवलोक भरत का वही भाव सुख होगा।’  
 गुरु-गिरा श्रवण कर हुए सभी गद्गद-से,  
 बोले तब राघव भरे स्नेह के नद - से—  
 “पूजा न देखकर देव भक्ति देखेंगे,  
 थोड़े को भी वे सदा बहुत लेखेंगे।’  
 कौसल्या को अब रहा न मान - परेखा,  
 पर कैंकयी की ओर उन्होंने देखा।  
 बोली वह अपना कण्ठ परिष्कृत करके,  
 प्रभु के कन्धे पर वलय - शून्य कर धरके—  
 “है श्रद्धा पर ही श्राद्ध, न आडम्बर पर,  
 पर तुम्हें कभी क्या, करो, कहे जो गुरुवर।’  
 यह कह मानो निज भार उतारा उसने,  
 लक्ष्मण - जननी की ओर निहारा उसने।

कुछ कड़ा सुमित्रा ने न अश्रुमय मुख से ,  
 सिर से अनुमति दी नेत्र पोछकर दुख से ।  
 “जो आज्ञा” कह प्रभु घूम अनुज से बोले—  
 “लेकर अपने कुछ चुने बनेचर भोले ,  
 सबका स्वागत - सत्कार करो तुम तब लौ ,  
 मैं करूँ स्वयं करणीय कार्यं सब जब लौ ।”

यह कह सीता - सह नदी - तीर प्रभु आये ,  
 श्रद्धा - समेत सद्धर्म समान सुहाये ।  
 पीछे परिजन विश्वास - सहस्र थे उनके ,  
 फल सम लक्ष्मण ने दिया आपको चुनके ।

पट मण्डप चारो ओर तने मनभाये ,  
 । जिनपर रसाल, मधु, निम्ब, जम्बु, वट छाये ।  
 मानो बहु कटि - पटि चित्रकूट ने पाये ,  
 किंवा नूतन घन उसे घेर घिर आये ।  
 आलान बने द्रुम - काण्ड गजो के जैसे ,  
 । गज - निगड बलय बन गये द्रुमो के वैसे ।  
 । न्युत पत्र पीठ पर पड़े, फुरहरी आई ,  
 । घोडो ने ग्रीवा मोड़ दृष्टि दौड़ाई ।

नव उपनिवेश-सा वसा घड़ी भर ही मे ;  
 समझा लोगों ने कि हैं सभी घर ही में ।  
 लग गई हाट जिसमें न पड़े कुछ देना  
 ले लें उसमें जो वस्तु जिन्हे हो लेना ।  
 बहु कन्द-मूल-फल कोल-भील लाते थे,  
 पहुँचाते थे सर्वत्र, प्रीति पाते थे-  
 "वस, पत्र-पुष्प हम वन्यचरों की सेवा,  
 महुवा मेवा है, बेर कलेवा, देवा !

उस ओर पिता के भक्ति-भाव से भरके,  
 अपने हाथों उपकरण इकट्ठे करके,  
 प्रभु ने मुनियों के मध्य श्राद्ध-विधि साधी,  
 ज्यों दण्ड चुकावे आप अवश अपराधी ।  
 पाकर पुत्रो मे अटल प्रेम अघटित-सा,  
 पितुरात्मा का परितोष हुआ प्रकटित-सा ।  
 हो गई होम की शिखा समुज्ज्वल दूनी,  
 मन्दानिल में मिल खिली धूप की धूनी ।  
 अपना आमन्त्रित अतिथि मानकर सबको,  
 पहले परोस परितृप्त-दान कर, सबको,

प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यो ,  
सेवन करता है मन्द पवन उपवन ज्यो ।

[ २ ]

तदनन्तर बैठे सभा उटज के आगे ,  
नीले वितान के तले दीप बहु जागे ।  
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे ,  
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे ?  
उत्फुल्ल करौंदी - कुञ्ज वायु रह रहकर ,  
करती थी सबको पुलक - पूर्ण मह महकर ।  
वह चन्द्रलोक था, कहां चांदनी वैसी ,  
प्रभु बोले गिरा गभीर नीरनिधि जैसी ।  
‘हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना ।’  
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना ।  
‘हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?  
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?  
पाया तुमने तरु - तले अरण्य - बसेरा , .  
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?

तनु तडप तडपकर तप्त तात ने त्यागा ,  
 क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?  
 हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा ,  
 निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा ।  
 अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका ?  
 ससार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका ।  
 मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुहं फेरा ,  
 हे आर्य, बता दो तुम्ही अभीप्सित मेरा ?"  
 प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा ,  
 रोदन जल से सबिनोद उन्हें फिर सींचा ।—  
 ✓ "उसके आशय की चाह मिलेगी किसको ?  
 ✓ जनकर जननी ही जान न पाई जिसको ।"

✓ "यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को ।"  
 चौंके सब सुनकर अटल कैकयी - स्वर को ।  
 सबने रानी की ओर अचानक देखा ,  
 वैधव्य - तुषारावृता यथा विधु - लेखा ।  
 बैठी थी अचल तथापि असह्यतरंगा ,  
 वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गगा—

हाँ, जनकर भी मैंने न भरत को जाना ,  
 सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।  
 यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया ,  
 अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।  
 दुबलता का ही चिह्न विदोष क्षय है ,  
 पर, अबलाजन के लिए कौन - सा पथ है ?  
 यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ ।  
 तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोजूँ ।  
 ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो ,  
 शत्रु के यदि उसमें तार उसे सब जुन लो ।  
 करके पहाड़ - सा पाप मौन रह जाऊँ ?  
 राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?”  
 थी सनक्षन शशि - निशा ओस टपकाती ,  
 रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती ।  
 उल्का - सी रानी दिशा दीप्त करती थी ,  
 सबमें भय - विस्मय और खेद भरती थी ।  
 “क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी ,  
 मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।  
 जल पजर - गत अब अरे अधीर, अभाग ,  
 वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुम्हीमें जाने ।

पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?  
 क्या शेष वचा था कुछ न और इस जन में ?  
 कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मान, क्या तेरा ?  
 पर आज अन्य-मा हुआ वत्स भी मेरा ।  
 शूके, मुझपर नैलोक्य भले ही शूके,  
 जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?  
 छोने न मातृपद किन्तु भरत का मुझमें,  
 रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?  
 कहते आते थे यही अभी नरदेही,  
 'माता न कुमाता, पुन कुपुन भले ही ।'  
 अब कहे सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,—  
 'हैं पुत्र पुन ही, रहे कुमाता माता ।'  
 वस मैंने इसका बाह्य-मात्र ही देखा,  
 दृढ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा ।  
 परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,  
 इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा ।  
 युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—  
 'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।'  
 निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—  
 'घिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ।'-



“सौ वार धन्य वह एक लाल की भाई ,  
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई ।”  
पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—  
“सौ वार धन्य वह एक लाल को भाई ।”

“हा ! लाल ? उसे भी आज गमाया मैंने ,  
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने ।  
निज स्वर्ग उसीपर वार दिया था मैंने ,  
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने ।  
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है ,  
शक्ति सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है ।  
श्रीखण्ड आज अगार - चण्ड है मेरा ,  
तो इससे बढकर कौन दण्ड है मेरा ?

पटके मैंने पद - पाणि मोह के नद मे ,  
जन क्या क्या करते नही स्वप्न मे, मद मे ?  
हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डरूंगी अब भी ?  
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी ।  
हा दया ! हन्त वह घृणा ! अहह वह करुणा !  
- वैतरणी - सी हैं आज जाह्नवी - वरुणा !

सह सकती है चिरनरक, सुनें सुविचारी ,  
 पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी ।  
 लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा ,  
 मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा ।  
 घर चलो इसीके लिए, न रुठो अब यों ,  
 कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?  
 मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे ,  
 मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे ।  
 मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम ,  
 अपने से पहले इसे मानते हो तुम ।  
 तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा ,  
 यदि वह सबपर यो प्रकट हुआ है वैसा ,  
 तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा ,  
 मैं रहूँ पकिला, पद्म-कोष है मेरा ।  
 आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले लेकर  
 समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर ।  
 मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा ,  
 उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा ।  
 देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है ,  
 दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है ।”

हँस पड़े देव केकयी-कथन यह सुनकर ,  
 रो दिये क्षुब्ध दुर्देव दैत्य सिर धुनकर ।  
 "छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का ,  
 बल दिया उसीने भूल मान लेने का ।  
 अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे ,  
 मैं वही केकयी, वही राम तुम मेरे ।  
 होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अन्धेरी ,  
 जीजी आकर करती पुकार थी मेरी—  
 'लो कुहुकिनि, अपना कुहक, राम यह जागा ;  
 निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा ।  
 भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ सशय का ,  
 प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का ।  
 तुमपर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती ,  
 तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती ।—  
 जीजी ही आती, किन्तु कौन मानेगा ?  
 जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा ।"  
 "हे अम्ब, तुम्हारा राम जानता है सब ,  
 इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब ?"  
 "क्या स्वाभिमान रखती न केकयी रानी ?  
 'बतला दे कोई मुझे उच्चकुल - मानी ।

सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा ?  
 पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा ?  
 मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी,  
 इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी ।  
 पर महा दीन हो गया आज मन मेरा,  
 भावज, सहेजो तुम्ही भाव - धन मेरा ।  
 ममुचित ही मुझको विश्व - घृणा ने घेरा,  
 समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा ?  
 यो ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को,  
 मैं बैठी ही रह गई लिये इस उर को !  
 धुम गई पिता की चिता भरत - भुजधारी,  
 पितृभूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी ।  
 भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका,  
 चलकर सुचरित, फिर हृदय जुड़ाओ उसका ।  
 हो तुम्ही भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो,  
 मैं पाल सबी न स्वधर्म, उसे तुम पालो ।  
 स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं,  
 भरकर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं ।  
 मर मिटना भी है एक हमारी क्रीडा,  
 पर भरत - वाक्य है—महँ विश्व की क्रीडा ।

जीवन - नाटक का अन्त कठिन है मेरा ,  
 प्रस्ताव मान मे जहाँ अघैर्य अघेरा ।  
 अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता ;  
 करती है तुमसे विनय आज यह माता—।”

“हा मात , मुझको करो न यो अपराधी ,  
 मैं सुन न सकूँगा बात और अब आघी ।  
 कहती हो तुम क्यों अन्य - तुल्य यह वाणी ;  
 क्या राम तुम्हारा पुत्र नहीं वह मानी ?  
 इस भाँति मनाकर हाय, मुझे न रुठाओ ,  
 जो उठूँ न मैं, क्यों तुम्हीं न आप उठाओ ।  
 वे शिशव के दिन आज हमारे बीते ,  
 माँ के शिशु क्यों शिशु ही न रहे मनचीते ।  
 तुम रीझ खीझकर प्यार जनाती मुझको ,  
 हँस आप रुठाती, आप मनाती मुझको ।  
 वे दिन बीते तुम जीर्ण दुख की मारी ,  
 मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी ।  
 अब उठा सकोगी तुम न तीन मे कोई ।”  
 ‘तुम हलके कव थे ?—’ हँसी केकपी, रोई ।

"माँ, अब भी तुमसे राम वियोग चाहेगा ?  
 अपने ऊपर क्या आप अद्रि ढाहेगा ?  
 अब तो आज्ञा की अम्ब, तुम्हारी वारी,  
 प्रस्तुत है मैं भी धर्मधनुर्धृतिधारी ।  
 जननी ने मुझको जना, तुम्हींने पाला,  
 अपने साँचे मे आप यत्न से ढाला ।  
 सबके ऊपर आदेश तुम्हारा भैया,  
 मैं अनुचर पूत, सपूत, प्यार का भैया,  
 वनवास लिया है मान तुम्हारा शासन,  
 लूंगा न प्रजा का भार, राज - सिंहासन ?  
 पर यह पहला आदेश प्रथम हो पूरा,  
 वह तात - सत्य भी रहे न अम्ब, अधूरा—  
 जिस पर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे,  
 मैं भी अपना व्रत - नियम निवाहूँ आगे ।  
 निष्फल न गया माँ, यहाँ भरत का आना,  
 सिरमाथे मैंने वचन तुम्हारा माना ।  
 सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में ;  
 सुख धन-धरती मे नहीं, किन्तु निज मन मे ।  
 यदि पूरा प्रत्यय न हो तुम्हे इस जन पर,  
 तो चढ़ सकते हैं राजदूत तो धन पर ।"

"राघव, तेरे ही योग्य कथन है तेरा ,  
 बूढ़ बाल-हठो तू वही राम है मेरा ।  
 देखें हम तेरा अवधि मागं सब सहकर ।"  
 कौसल्या चुप हो गई आप यह कहकर ।  
 ले एक सांस रह गई सुमित्रा भोली ,  
 कैकेयी हो फिर रामचन्द्र से बोली—  
 "पर मुझको तो परितोष नहीं है इससे ,  
 हा ! तब तक मैं क्या कहूँ मुनूंगी किससे ?"  
 "जीतो है अब भी अम्ब, ऊर्मिला बेटी ;  
 इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं चेटो ।"  
 "रानी, तूने तो रुला दिया पहले ही ,  
 यह कह कांटों पर मुला दिया पहले ही ।  
 आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी, आ जा ,  
 पिस मुझसे चंदन-लता मुझीपर छा जा !  
 'हे बत्स, तुम्हें बनवास दिया मैंने ही',  
 'अब उसका प्रत्याहार किया मैंने ही ।'  
 "पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है ,  
 लौटाकर वह कब कहाँ लिया जाता है ?  
 क्यों व्यर्थ तुम्हारे प्राण खिन्न होते हैं ,  
 वे प्रेम और कर्त्तव्य भिन्न होते हैं ।

जाने दो, निर्णय करें भग्न ही साग—  
मेरा अथवा है, कयन यथार्थ तुम्हारा ।  
मेरा-इनकी चिर पच रही तुम माता ,  
हम दोनों के मध्यस्थ आज ये भ्राता ।”

“हा आर्य ! भरत के लिए और था इतना ?”  
“बस भाई, लो माँ, बहे और ये कितना ?”  
“कहने से तो, है बहुत दुःख से सुख से ,  
पर आर्य ! कहूँ तो कहूँ आज किस मुख से ?  
तब भी है तुमसे विनय, लौट घर जाओ ।”  
“इस ‘जाओ’ का क्या अर्थ, मुझे बतलाओ ?”  
“प्रभु, पूर्ण करूँगा यहाँ तुम्हारा व्रत मैं ।”  
“पर क्या अयोग्य असमर्थ और अनिरत मैं ?”  
“यह सुनना भी है पाप, भिन्न हूँ क्या मैं ?”  
“इस शका से भी नहीं खिन्न हूँ क्या मैं ?—  
हम एकात्मा हैं, तदपि भिन्न है काया ।”  
“तो इस काया पर नहीं मुझे कुछ माया ।  
सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे ,  
मिल जाय तुम्हीमें प्राण आर्त्त अनुरागे ।”



“पर मुझे प्रयोजन अभी अनुज, उस तन का ।”  
 “तो भार उतारो तात, तनिक इस जन का ।  
 तुम निज विनोद में व्यथा छिपा सकते हो ,  
 करके इतना आयास नहीं थकते हो ।  
 पर मैं कैसे, किसलिए, सहूँ यह इतना ?”  
 “मुझ जैसे मेरे लिए तुम्हें यह कितना ?  
 शिष्टागम निष्फल नहीं कही होता है ,  
 वन में भी नागरभाव - बीज बोता है ।  
 कुछ देख रही है दूर दृष्टि - मति मेरी ,  
 क्या तुम्हें इष्ट है वीर, विफल - गति मेरी ;  
 तुमने मेरा आदेश सदा से माना ,  
 है तात, कहो क्यों आज व्यर्थ हठ ठाना ?  
 करने में निज कर्तव्य कुयश भी यश है ।”  
 “हे आर्य, तुम्हारा मरत अतीव अवश है ।  
 क्या कहूँ और क्या करूँ कि मैं पथ पाऊँ ?  
 क्षण भर ठहरो, मैं ठगा न सहसा जाऊँ ।”

सन्नाटा - सा छा गया सभा में क्षण भर ,  
 हिल सका न मानो स्वयं काल भी कण भर ।

जावालि जरठ को हुआ मौन दुःसह - सा ,  
 बोले वे स्वजटिल शीर्ष डुलाकर सहसा—  
 “ओहो ! मुझको कुछ नहीं समझ पड़ता है ,  
 देने को उल्टा राज्य द्वन्द्व लड़ता है ।  
 पितृ - वध तक उसके लिए लोग करते हैं ।”  
 “हे मुने, राज्य पर वही मर्त्य मरते हैं ।”  
 “हे राम, त्याग की वस्तु नहीं वह ऐसी ।”  
 “पर मुने, भोग की भी न समझिये वैसी ।”  
 “हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका ?”  
 “हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका !”  
 “पशु - पक्षी तक हे वीर, स्वार्थ - लक्ष्य हैं ।”  
 “हे धीर, किन्तु मैं पशु न आप पक्षी हूँ ।”  
 “मत की स्वतन्त्रता विशेषता आर्थों की ,  
 निज मत के ही अनुसार क्रिया कार्यों की ।  
 हे वत्स, विफल परलोक - दृष्टि निज रोको ।”  
 “पर यही लोक है तात, आप अवलोको ।”  
 “यह भी विनश्य है, इसीलिए हूँ कहता ।”  
 “क्या ?—हम रहते, या राज्य हमारा रहता ?”  
 “मैं कहता हूँ—सब भस्मशेष जब लोगो ,  
 तब दुःख छोड़कर क्यों न सौख्य ही भोगो ?”

“पर सौख्य कहाँ है, मुने, आप बतलावें ?”  
 “जनसाधारण ही जहाँ मानते आवें ।”  
 “पर साधारण जन आप न हमको जानें ,  
 जनसाधारण के लिए भले ही मानें ।”  
 “यह भावुकता है ।” “हमें इसीमें सुख है ,  
 फिर पर-मुख में क्यों चारुवाक्य, यह दुख है ?”  
 तब वामदेव ने कहा—“धन्य भावुकता ,  
 कर सकता उसका मूल्य कौन है चुकता ?  
 भावुक जन से ही महत्कार्य होते हैं ,  
 ज्ञानी ससार असार मान रोते हैं ।”  
 “किनसे विवाद हे आर्य, आप करते हैं ?”  
 बोले लक्ष्मण—“ये सौख्य खोज मरते हैं !  
 । सुख मिले जहाँ पर जिन्हें, मवाद वे चवखें ,  
 । पर औरों का भी ध्यान कृपा कर रखें ।  
 । शासन सब पर है, इसे न कोई भूले—  
 शासक पर भी. वर भी न फलकर लले ।”

मन चाहे जैसे और परीक्षा लोजे,  
आवश्यक हो तो स्वयं स्वदीक्षा दीजे।”  
प्रभु बोले—“शिक्षा वस्तु सदैव अघूरी,  
हे भरतभद्र, हो बात तुम्हारी पूरी।”

“हे देव, विफल हो बार बार भी, मन की,—  
प्राशा अटकी है अभी यहाँ इस जन की।  
जब तक पितुराजा आर्य यहाँ पर पालें,  
तब तक आर्या ही चलें,—स्वराज्य संभालें।”  
“भाई, अच्छा प्रस्ताव और क्या इससे ?  
हमको - तुमको सन्तोष सभीको जिससे।”  
“पर मुझको भी हो तब न ?” मैथिली बोली—  
कुछ हुई कुटिल - सी सरल दृष्टियाँ भोली।  
“कह चुके अभी मुनि—‘सभी स्वार्थ ही देखे।’  
प्रपने मत मे वे यहाँ मुझीको लेखे !”  
“भाभी, तुमपर है मुझे भरोसा दूना,  
तुम पूर्ण करो निज भरत-मातृ-पद ऊना।  
जो कोसलेश्वरी हाय ! वेश ये उनके ?  
मण्डन हैं अथवा चिह्न शेष ये उनके ?”

“देवर, न रुलाओ आह, मुझे रोकर यो ,  
 कातर होते हो तात, पुरुष होकर यों ?  
 स्वयमेव राज्य का मूल्य जानते हो तुम ,  
 क्यों उसी धूल में मुझे सानते हो तुम ?  
 मेरा मण्डन सिन्दूर - बिन्दु यह देखो ,  
 सौ सौ रत्नों से इसे अधिक तुम लेखो ।  
 शत चन्द्र - हार उस एक अरुण के आगे ,  
 कब स्वयं प्रकृति ने नहीं स्वयं ही त्यागे ?  
 इस निज सुहाग की सुप्रभात बेला में ,  
 जाग्रत जीवन की खण्डमयी खेला में ,  
 मैं अम्बा - सम आशीष तुम्हें दूँ, आओ ,  
 निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ !”  
 “मैं अनुगृहीत हूँ, अधिक कहूँ क्या देवी ,  
 निज जन्म जन्म में रहूँ सदा पद - सेवी ।  
 हे यशिस्विनी, तुम मुझे मान्य हो यश से ।  
 पर लगेँ न मेरे वचन तुम्हें कर्कश - से ।  
 तुमने मुझको यश दिया स्वयं श्रीमुख से ।  
 सुख - दान करें अब आर्य वचाकर दुःख से ।  
 हे राघवेन्द्र, यह दास सदा अनुयायी ,  
 है बड़ी दण्ड से दया अन्त में न्यायी !”

“क्या कुछ दिन तक भी राज्य भार है भाई ?  
 सब जाग रहे हैं, अर्द्ध रात्रि हो आई ।”  
 “हे देव भार के लिए नहीं रोता हूँ ,  
 इन चरणों पर ही मैं अधीर होता हूँ ।  
 प्रिय रहा तुम्हें यह दयाघृष्टलक्षण तो ,  
 कर लेंगी प्रभु - पादुका राज्य - रक्षण तो ।  
 तो जैसी आज्ञा, आर्य सुखी हो वन में ,  
 जूमेगा दुख से दास उदास भवन में ।  
 वस, मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ ,  
 वच उनके बल पर, अवधि-पार मैं पाऊँ ।  
 हो जाय अवधि-भय अवध अयोध्या अव से ,  
 मुख खोल नाथ कुछ बोल सकूँ मैं सबसे ।”  
 “रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी ,  
 शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी !  
 था यही अभीप्सित तुझे अरे अनुरागी ,  
 तेरी आर्या के वचन सिद्ध है त्यागी !”  
 “अभिषेक अम्बु हो कहाँ अधिष्ठित, कहिए ,  
 उसकी इच्छा है—यही तीर्थ वन रहिए ।  
 हम सब भी कर लें तनिक तपोवन-यात्रा ।”  
 “जैसी इच्छा, पर रहे नियत ही मात्रा ।”

तब सबने जय जयकार किया मनमाना ,  
 वक्षित होना भी इलाध्य भरत का जाना ।  
 पाया अपूर्वं विश्राम साँस - सी लेकर ,  
 गिरि ने सेवा की शुद्ध अनिल-जल देकर ।  
 मूँदे अनन्त ने नयन धार वह भाँकी ,  
 शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी ।  
 द्विज चहक उठे, होगया नया उजियाला ,  
 हाटक-पट पहने दोख पड़ी गिरिमाला ।  
 सिन्दूर-चढा आदर्श - दिनेश उदित था ,  
 जन जन अपने को आप निहार मुदित था ,  
 सुख लूट रहे थे अतिथि विचरकर, गाकर—  
 'हम धन्य हुए इस पुण्य भूमि पर आकर ।'  
 इस भाँति जनो के मनोमुकुल खिलते थे ,  
 नव नव मुनि-दर्शन, प्रकृति-दृश्य मिलते थे ।

गुरु-जन-समीप थे एक समय जब राघव ;  
 लक्ष्मण से बोली जनकसुता साञ्जलाघव—  
 "हे तात, तालसम्पुटक तनिक ले लेना ,  
 बहनो को वन-उपहार मुझे है देना ।"

“जो आशा,”—लक्ष्मण गये तुरन्त कुटो में ,  
ज्यों घुसे सूर्य-कर-निकर सरोज - पुटी में ।  
जाकर परन्तु जो वहाँ उन्होंने देखा ,  
तो दोख पड़ी कोणस्थ ऊर्मिला - रेखा ।  
यह काया है' या शेष उसीकी छाया ,  
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया !

“मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी ,  
में बाँध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी ।”  
गिर पड़े दोहूँ सौमित्रि प्रिया - पद - तल में ,  
वह भीग उठी प्रिय - चरण धरे दृग - जल में ।

“वन में तनिक तपस्या करके  
वनने दो मुझको निज योग्य ,  
भाभी की भगिनी, तुम मेरे  
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।”  
“हा स्वामी ! कहना था क्या क्या  
/ कह न सकी, कर्मों का दोष !  
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो  
मुझे उसीमें है सन्तोष ।”



एक घड़ी भी बीत न पाई,  
 बाहर से कुछ वाणी आई।  
 सीता कहती थी कि—“अरे रे,  
 आ पहुँचे गिरुपद भी मेरे।”

## नवम सर्ग

[ १ ]

दो वशो मे प्रकट करके पावनी लोक - लीला ,  
सौ पुत्रो से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला ,  
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही ,  
राजा - योगी जय जनक वे पुण्यदेही विदेही ।

विफल जीवन व्यर्थ वहा वहा ,  
सरस दो पद भी न हुए हहा ।  
कठिन है कविते, तब भूमि ही ।  
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा ।

करुणो, क्यों रोती है ? 'उत्तर' मे और अधिक तू रोई—  
'मिरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई?' }

अवध का अपनाकर त्याग से,  
 वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।  
 भरत ने उनके अनुराग से,  
 भवन में वन का व्रत ले लिया।

स्वामि-सहित सीता ने  
 नन्दन माना सघन - गहन कानन भी,  
कुमिला वधू ने वन  
किया उन्हींके हितार्थ निज उपवन भी।

अपने अतुलित कुल में  
 प्रकट हुआ था कलक जो काला,  
 वह उस कुल-वाला ने  
 अश्रु - सलिल से समस्त धो डाला।

भूल अवधि-सुध प्रिय से  
 कहती जगती हुई कभी—'आओ !'  
 किन्तु कभी सोती तो  
 उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ !'

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,  
 जलती-सी उस विरह में, यनी आरतो आप !

आँखों में प्रिय - मृति थी, भूले थे नव भोग ,  
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !

आठ पहर चौमठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान ,  
छूट गया पोछे स्वयं उससे आत्मज्ञान !

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से ,  
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से ,  
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हो विभूषण करण के ,  
क्यों न बनते कविजनो के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?

हले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे ,  
गूँटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे ?

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट ,  
घन्य सखी देती रही निज यत्नो की ओट ।

मिलाप था दूर अभी घनी का ,  
विलाप ही था वस का वनी का ।  
अपूर्व आलाप वही हमारा ,  
यथा विपची—दिर दार दारा ।

सोचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्तरी ,  
 शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएं हरी ।  
 क्रीड़ा-कानन-शील यन्त्र-जल से ससिक्त होता रहे ,  
 मेरे जीवन का, चलो सखि, वही सोता भिगोता बहे ?

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊं ?  
 है ही क्या, हा ! आज जो मैं जताऊं ?  
 तो भी तूली, पुस्तिका और बीणा ,  
 चौथी मैं हूँ, पाँचवी तू प्रबीणा !

हुआ एक दुःस्वप्न-सा सखि, कैसा उत्पात ,  
 जगने पर भी वह बना वैसा ही दिन रात !

खान-पान तो ठीक है पर तदनन्तर हाय !  
 आवश्यक विश्राम जो उसका कौन उपाय ?

अरी, व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई ,  
 हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई ?  
 वही पाक है, जो बिना भूख भावे ,  
 बताना किन्तु तू ही, उसे कौन खावे ?

बनाती रसोई, सभीको खिलाती,

इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती ।

रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,

खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना ?

वन की भेट मिलो है,

एक नई वह जड़ी मुझे जीजो से,  
साने पर मखि, जिमके

गुड गोबर-मा लगे स्वयं ही जी से ।

रस हैं बहुत, परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग,

बिना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग ।

लाई है क्षीर क्यों तू ? हठ मत कर यों,

मैं पियूंगी न आली,

मैं हूँ क्या हाथ । कोई शिशु सफलहठो,

रक् भी राज्यशाली ?

माना तूने मुझे है तरण विरहिणी,

वीर के साथ व्याहा,

आँखों का नीर ही क्या कम फिर मुझको ?

चाहिए और क्या हा ।

चाहे फटा फटा हो, मेरा अम्बर अशून्य है आली ,  
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तों डाली !

धूलि-धूसर है तो क्या, यो तो मृन्मात्र गात्र भी ,  
वस्त्र ये वल्कलो से तो है सुरम्य, सुपात्र भी ।

फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से ;  
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी विचार से ?

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहनूँ ला, सब कहूँ ;  
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अग्रव तरुँ ।  
कहे जो, मानूँ सो, कित विध बता, धीरज धरूँ ;  
अरी, कैसे भी तो एकद प्रिय के वे पद मरूँ ।

रोती है और दूनी निरखकर मुझे  
दोन-सी तीन सासों ,  
होते हैं देवरश्री नत, हत ब्रह्म  
छोड़ती है उसासों ।  
आली, तू ही बता दे, इस विजन विना  
मैं कहां ग्राज जाऊँ ?  
दीना, होना, अधीना ठहरकर जहां -  
शान्ति दू और पाऊँ ?

आई थी सखि, मैं यहाँ लेकर हर्षोल्लास,  
जाऊँगी कैसे भला देकर यह निःश्वास ?  
वहाँ जायेंगे प्राण ये लेकर इतना ताप ?  
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप ।

साल रही सखि, माँ की  
भाँकी वह चित्रकूट की मुझको,  
बोली जब वे मुझसे—  
‘मिला नवन हीन भवनही तुझको !’

त तथा जामाता समान ही मान तात थे आये,  
र निज राज्य न मँझली माता को वे प्रदान कर पाये ?

मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या सँभल के ?  
बहे आँसू होके सखि, सब उपालम्भ गल के ।  
उन्हें ही आई जो निरख मुझको नीरख दया,  
उसीकी पीड़ा का अनुभव मुझे हा ! रह गया !

---

न कुछ कह सकी अपनी,  
न उन्हीकी पूछ मैं सकी भय से,  
अपने को भूले वे,  
मेरी ही कह उठे सखेद हृदय से ।



✓ मिथिला मेरा मूल है और अयोध्या फूल ,  
चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती है मूल ।

सिद्ध - शिलाओं के आधार ,  
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार ।

तुम्हपर ऊँचे ऊँचे भाड ,  
तने पत्र मय छत्र , पहाड ।  
क्या अपूर्व है तेरी आड ,  
करते हैं बहु जीव विहार ।  
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार ।

घिरकर तेरे चारो ओर ,  
करते हैं घन क्या ही घोर ।  
नाच नाच गाते हैं मोर ,  
उठती है गहरी गुञ्जार ,  
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार ।

नहलाती है नभ की वृष्टि ,  
अग पोछती आतप - सृष्टि ,  
करता है शशि शीतल दृष्टि ,

✓ देता है ऋतुपति शृङ्गार ,  
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार ।

तू निर्भर का डाल दुकूल,,  
 लेकर कन्द - मूल - फल - फूल ,  
 स्वागतार्थ सबके अनुकूल ,  
 खडा खोल दरियो के द्वार , .  
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !  
 सुदृढ, धातुमय, उपलशरीर ,  
 अन्तःस्तल मे निर्मल नीर ,  
 अटल-अचल तू धीर-गभीर ,  
 समशीतोष्ण, शान्तिमुखसार ,  
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !  
 विविध राग-रजित, अभिराम ,  
 तू विराग-साधन, वन-धाम ,  
 कामद होकर आप अकाम ,  
 नमस्कार तुमको शत बार ,  
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

।पितृपतिकाएँ हो

जितनी भी सखि, उन्हे निमन्त्रण दे आ ,  
 मधुःखिनी मिलें तो  
 दुःख बँटें, जा, प्रणयपुरस्सर ले आ ।

सुख दे सकते हैं तो दुखी जन ही मुझे, उन्हें यदि भेटूं ,  
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी भेटूं ?

इतनी बड़ी पुरी में, क्या ऐसी दुखिनी नहीं कोई ?  
जिसकी सखी वनूं मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई ?

मैं निज ललितकलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में,  
सखि, पुरवाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में ?

कोन-सा दिखाऊँ दृश्य वन का वता मैं आज ?

हो रही है आलि, मुझे चित्र-रचना की चाह,—  
नाला पड़ा पथ में, किनारे जेठ-जीजी खड़े ,

अम्बु अवगाह आर्यपुत्र ले रहे है थाह ?

किंवा वे खड़ी हो घूम प्रभु के सहारे आह ,

तलवे से कण्टक निकालते हो ये कराह ?

अथवा भुकाये खड़े हो ये लता और जीजी

फूल ले रही हों, प्रभु दे रहे हो बाह बाह ?

प्रिय ने सहज गुणों से, दीक्षा दी थी मुझे प्रणय, जो तेरी ,  
आज प्रतीक्षा-द्वारा, लेते हैं वे यहाँ परीक्षा मेरी ।

जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी,  
 हरी भूमि के पात पात में मैंने हृदयगति हेरी।  
 खींच रही थी दृष्टि सृष्टि यह स्वर्णरश्मियाँ लेकर,  
 पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय में सेकर।  
 तृण तृण को नभ सींच रहा था बूंद बूंद रस देकर,  
 बढ़ा रहा था सुख की नौका समय समीरण खेकर।  
 बजा रहे थे द्विज दल-बल से शुभ भावों की भेरी,  
 जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।  
 वह जीवन-मध्याह्न सखी, अब श्रान्ति-बलान्ति जो लाया,  
 खेद और प्रस्वेद - पूर्ण यह तीव्र ताप है छाया।  
 पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया ?  
 रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको भाया !  
 यह विपाद ! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी,  
 जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।  
 वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,  
 पूर्व और पश्चिम की लाली रोष - वृष्टि करती है।  
 लेता है निश्वास समीरण, सुरभि घूलि चरती है,  
 उबल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है।  
 पत्र-पुष्प सब बिखर रहे हैं, कुशल न मेरी - तेरी,  
 जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

आगे जीवन की सन्ध्या है, देखे क्या हो आली ,  
 तू कहती है—‘चन्द्रोदय हो, काली में उजियाली’ ?  
 सिर-आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-ताली ?  
 किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली ?  
 ‘फिर प्रभात होगा’ क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी ,  
 जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी ।

सखि, विहग उड़ा दे, हों सभी मुक्तिमानी ,  
 सुन शठ शुक-वाणी—‘हाय ! छूठो न रानी !’  
 खग, जनकपुरी की व्याह दूँ सारिका मैं ?  
 तदपि यह वही की त्यक्त है दारिका मैं !

कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?  
 विकच वदन वाले वे कृती कान्त मेरे ?  
 सचमुच ‘भृगया में’ ? तो अहेरी नये वे ,  
 यह हत हरिणी क्यों छोड़ यो ही गये वे ?

निहार सखि, सारिका कुछ कहे विना शान्त - सी ;  
 दिये श्रवण है यही, इधर मैं हुई अन्त - सी ।  
 इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी—  
 ‘धरो !’ खगि, किसे धरूँ ? धृति लिये गये है धनी ।

तुझपर-मुझपर हाथ फेरते साथ यहाँ ,  
 शशक, विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ ?  
 तेरी ही प्रिय जन्मभूमि मे, दूर नहीं ,  
जा तू भी कहना कि ऊमिला क्रूर वहीं !

लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत, वे ,  
 गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे ?  
 लाते तुम्ही हा ! प्रिय-मन-पोत वे ,  
 दुःखाब्धि में जो बनते सहारे ।

झीरों की क्या कहिये ,  
 निज रुचि ही एकतां नही रखती ;  
 चन्द्रामृत पीकर तू  
 चकोरि, अंगार है चखती !

विहग उड़ना भी ये हो बद्ध भूल गये, अये ,  
 यदि अब इन्हे छोड़ूँ तो और निर्दयता दये !  
 परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हे, सब हैं वहे ;  
 वस अब हमी साथी-सगी, सभी इनके रहे ।

मेरे उर-अंगार के बने बाल-गोपाल ,  
 अपनी मुनियों से मिले पले रहो तुम लाल !

वेदने, तू भी भली बनी !

पाई मैंने आज तुझीमे अपनी चाह घनी ।  
 नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर - कनी ,  
 सजग रहूँ मैं, साल हृदय मे, ओ प्रिय-विशिख-अनी !  
 ठडी होगी देह न मेरो, रहे दृगम्बु - सनी ,  
 तू ही उसे उष्ण रखेगी मेरी तपन - मनी !  
 | आ, अभाव की एक, आत्मजे, और अदृष्टि - जनी !  
 तेरी ही छातो है ' सचमुच उपमोचितस्तनी !  
 अरी वियोग - समाधि, अनोखो, तू क्या ठीक ठनी ,  
 अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची - तनी ।  
 मन - सा मानिक मुझे मिला है तुझमे उपल - खनी ,  
 तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण - धनी ।

} विरह सग अभिसार भी ,  
 भार जहाँ आभार भी ।

मैं पिंजडे मे पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी ,  
 काल कठिन बयो न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी !  
 जहाँ विरह ने गार दिया है किया वहाँ उपकार भी ,  
 सुघ बुघ हर ली, किन्तु दिया है कालज्ञान विचार भी ।

जना दिया है उसने मुझको जन जीवन है भार भी,  
 और मरण ? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी ।  
 जाना मैंने इस उर मे थी ज्वाला भी, जलघाग भी,  
 प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी थी, और एक ससार भी ।

लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा !  
 व्योम - सिन्धु सखि, देख, तारक - बुदबुद दे रहा ।

दीपक-सग शलभ भी

जला न सखि, जीत सत्व से तम को ,  
 क्या देखना - दिखाना  
 क्या करना है प्रकाश का हमको ?

दोनों ओर प्रेम पलता है ।  
 सखि, पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है ।

सोंस हिलाकर दीपक कहता—  
 'बन्धु, बूढ़ा ही तू क्यों दहता ?'  
 पर पतंग पड़कर ही रहता ।

कितनी विह्वलता है ।  
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।



बचकर हाथ ! पतंग मरे क्या ?

प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?

जले नहीं तो मरा करे क्या ?

क्या यह असफलता है ?

दोनों ओर प्रेम पलता है ।

बहता है पतंग मन मारे—

‘तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,

क्या न मरण भी हाथ हमारे ?’

दग्गण बिसे छलता है ?

दोनों ओर प्रेम पलता है ।

दीपक के जलने में आली,

फिर भी है जीवन की लाली ।

बिन्दु पतंग-भाग्य-लिपि वालो,

बितवा वन चलता है ?

दोनों ओर प्रेम पलता है ।

जगती बणिग्वृत्ति है रगती ।

उसे चाहती जिगमे रगती,

काम नहीं, परिणाम निरगती ।

मुझे यही समता है ।

दोनों ओर प्रेम पलता है ।

बता अरी, अब क्या करें, रुपी रात से रार,  
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ भख मार !

क्या क्षण क्षण मे चौक रही मैं ?  
सुनती तुझसे आज यही मैं ।  
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ ?  
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ ?

अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अग सहेज ,  
तू है फूलो मे पलो, यह काँटा की सेज !

यथार्थ था सो सपना हुआ है ,  
अलीक था जो अपना हुआ है ।  
रही यहाँ केवल है कहानी ,  
सुना वही एक नई - पुरानी ।

आओ हो, आओ, तुम्ही प्रिय के स्वप्न विराट ।  
अर्घ्य लिये आँखें खड़ी हेर रही हैं वाट ।

आ जा, मेरो निदिया गूंगी !  
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर चन्दखिलौना दूंगी !

प्रिय के आने पर आवेगी ,  
अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी ।  
पर यदि आज उन्हें लावेगी ,

तो तुझसे ही लूंगी ।  
आ जा, मेरी निदिया गूंगी !

पलक-पाँवड़ों पर पद रख तू ,  
तनिक सलौना रस भी चख तू ,  
आ, दुनिया की ओर निरख तू ,

मैं न्यौछावर हूंगी ।  
आ जा, मेरी निदिया गूंगी ।

हाय ! हृदय को थाम ,  
पकड़ भी मैं सकती कहाँ ,  
दुःस्वप्नों का नाम ,  
लेती है तू सखि, वहाँ ।

स्नेह जलाता है यह बत्ती ।  
फिर भी वह प्रतिभा है इसमे, दोसे जिसमे राई-रत्ती ।

रखती है इस अन्धकार मे सखि, तू अपनी साख ,  
मिल जाती है रवि-चरणो मे कर अपने को राख ।  
खिल जाती है पत्ती पत्ती ,  
स्नेह जलाता है यह बत्ती !

होने दे निज शिखा न चचल, ले अचल की ओट ,  
ईट ईट लेकर चुनते हैं हम कोसो का कोट ।  
ठडी न पड, बनी रह तत्ती ,  
स्नेह जलाता है यह बत्ती !

हाय ! न आया स्वप्न भी, और गई यह रात ,  
सखि, उडुगण भी उड चले, अब क्या गिनूं प्रभात ? ।

चचल भी किंगणो का  
चरित्र क्या ही पवित्र है भोला ,  
देकर' साख उन्होन  
उठा लिया लाल लाल वह गोला ।

सपि, नीलनभस्सर मे उतरा  
 यह हस अहा ! तरता तरता ,  
 अब तारक-भौक्तिक शेष नहीं ,  
 निकला जिनको चरता चरता !  
 अपने हिम-विन्दु वचे तब भी ,  
 चलता उनको धरता धरता ,  
 गड जाये न कण्टक भूतल के ,  
 कर डाल रहा डरता डरता !

भोगी या रज मे सनी अलिनी की यह पाँख ?  
 आलि, खुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख ?  
 वो बोकर कुछ बाटते, सो सोकर कुछ काल ,  
 रो रोकर हो हम मरे, खो सोकर स्वर-ताल !

ओहो ! मरा वह बराक वसन्त कैसा ?  
 ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा !  
 देगो, बढा ज्वर, जरा-जड़ता जगी है ,  
 लो, ऊध्वं सौम उमकी चलने लगी है !

तपोयोगि, आगो तुम्ही. मय खेतो के सार ,  
 बूझा-बचक हो जहाँ, करो जलाकर धार ।

आया अपने द्वार तप, तू दे रही किवाड़ ,  
सखि, क्या मैं बैठूँ विमुख ले उशीर की आह ?

ठेल मुझे न अकेली अन्ध-अवनि-गर्भ-गेह मे आली ?  
आज कहाँ है उसमे हिमाशु-मुख की अपूर्व उजियाली ?

आकाश-जाल सब ओर तना ,  
रवि तन्तुवाय है आज बना ,  
करता है पद - प्रहार वही ,  
मक्खी - सी भिन्ना रही महो ।

लपट से भट खूब जले, जले ,  
नद - नदी घट सूख चले, 'चले ।  
विकल वे मृग - मीन मरे, गरे ,  
विफल ये दृग दीन भरे, भरे ।

या तो पेड़ उखाड़ेगा, या पत्ता न हिलायगा ,  
बिना धूल उड़ाये हा ! ऊष्मानिल न जायगा ।

गृहवापी कहती है—

‘भरी रही, रिक्त क्यों न अब हूँगी ?  
पकज तुम्हे दिये हैं ,  
और किसे पक आज मैं दूँगी ?’

दिन जो मुझको देंगे, आलि, उसे मैं अवश्य ही लूंगी ,  
सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूंगी ?

आलि इसी बापी में हस बने बार बार हम बिहरे ,  
सुघकर उन छोटो की मेरे ये अंग आज भी सिहरे ।

चन्द्रकान्तमणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार ।  
चन्द्रकान्त आवें प्रथम जो सबके शृंगार ।

हृदयस्थित स्वामी की  
स्वजनि, उचित क्यों नहीं अर्चा ,  
मन सब उन्हें चढावे ,  
चन्दन की एक क्या चर्चा ?

बंधकर घुलना अथवा ,  
जल पल भर दीप-दान कर खुलना ,  
तुझको सभी सहज है ,  
मुझको कपूरवत्ति, बस घुलना ।

करो किसीकी दृष्टि को शीतल सदय कपूर ।  
इन आँखों में आप ही नीर भरा भरपूर ।

मन को यो मत जीतो !  
 बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुघ लो इसकी भी तो ।

इतना तप न तपो तुम प्यारे ,  
 जले आग - सी जिसके मारे ।  
 देखो, ग्रीष्म भीष्म तनु धारे ,  
 जन को भी मनचीतो ।  
 मन को यो मत जीतो ।

प्यासे हैं प्रियतम, सब प्राणी ,  
 उनपर दया करो हे दानी ,  
इन प्यासी आँखों में पानी ,  
 मानस, कभी न रीतो ।  
 मन को यो मत जीतो !

घरकर घरा धूप ने घाँधी ,  
 धूल उड़ाती है यह आँधी ,  
 प्रलय, आज किसपर कटि बाँधी ?  
 जड़ न बनो, दिन, बीतो ,  
 मन को यो मत जीतो !



मेरी चिन्ता छोड़ो ,  
 मग्न रहो नाथ, आत्मचिन्तन मे ,  
 बैठी हूँ मैं फिर भी ,  
 अपने इस नृप - निकेतन मे ।

। नयन नीर पर ही सखी, तू करती थी खेद ,  
 । टपक उठा है देख अब, रोम रोम से स्वेद ।

। ठहर अरो, इस हृदय मे लगी विरह की आग ,  
 तालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग !

प्रियतम के गौरव ने  
 लघुता दी है मुझे, रहे दिन भारी ।  
 सखि, इस कदुता मे भी  
 मधुस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी ।

तप, तुझसे परिपक्वता पाकर भले प्रकार ,  
 बने हमारे फल सकल, प्रिय के ही उपहार ।

पडो है लम्बी-सी अवधि पथ मे, व्यग्र मन है,  
गला रुखा मेरा, निकट तुझसे आज घन है।  
मुझे भी दे दे तू स्वर तनिक सारग, अपना,  
करूँ तो मैं भी हा ! स्वरित प्रिय का नाम जपना ।

कहती मैं, चातकि, फिर बोल,  
ये खारी आँसू की बूँदें दे सक्ती यदि मोल !  
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलो की तोल ?  
फर भी फिर भी इस झाड़ी के भुरमुट मे रस धोल ।  
श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,  
देख, आप ही अरुण हुए है उनके पाण्डु कपोल ।  
जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वयं हिल - डोल,  
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल - खगोल ।  
न कर वेदना-सुख से वचित, बड़ा हृदय - हिन्दोल,  
जो तेरे सुर मे सो मेरे उर मे कल - कल्लोल ।

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान ।  
हा ! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान ।

धूम उठे हैं शून्य मे उमड - धुमड घन घोर,  
ये किसके उच्छ्वास से छाये हैं सब ओर ?

मेरी ही पृथिवी का पानी ,  
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी !

---

मेरी ही धरती का घूम ,  
बना आज आली, घन घूम ।  
गरज रहा गज-सा भुक भूम ,  
ढाल रहा मद मानी ।  
मेरी ही पृथिवी का पानी ।

अब विश्राम करें रवि-चन्द्र ;  
उठे नये अकुर निस्तन्द्र ;  
वीर, सुनाओ निज मृदुमन्द्र ,  
कोई नई कहानी ।  
मेरी ही पृथिवी का पानी ।

वरस घटा, वरसूं मैं सग ;  
सरसैं अवनी के सब अग ;  
मिले मुझे भी कभी उमग ,  
सब के साथ सयानी ।  
मेरी ही पृथिवी का पानी ।

दरसो परसो घन, वरसो ,  
 सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, वरसो ।  
 घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़कर पावन सावन, वरसो ।  
 भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिघन, वरसो ।  
 सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभजन, वरसो ।  
 व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, अयि अग्रस्तन, वरसो ।  
 गत सुकाल के प्रत्यावर्तन हे दिखिनर्तन, वरसो ।  
 जड़ चेतन में बिजली भर दो ओ उद्बोधन, वरसो ।  
 चिन्मय बनें हमारे मृण्मय पुलकांकुर वन, वरसो ।  
 मन्त्र पढ़ो, छोटे दो, जागे सोये जोवन, वरसो ।  
 घट पूरो त्रिभुवनमानस रस, कन कन छन छन, वरसो ।  
 आज भीगते ही घर पहुँचें, जन जन के जन, वरसो ।

घटना हो, चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य, } ५  
 आती है ऊपर सखी, छाकर चन्द्रादित्य ! } ६

तरसूँ मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हंसे प्रकृति प्यारी ,  
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी वारी ।

बुंदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप ,  
 उठती हैं वे भाप-सी गिरकर अपने आप !

न जा उधर हे सखी, वह शिखी सुखी हो नचे ,  
 न सकुचित हो वही, मुदित लास्य-लीला रचे ।  
 वनूं न पर-विघ्न मैं बस मुझे अवाधा यही ,  
 विराग अनुराग मे अहह ! इष्ट एकान्त ही ।

इन्द्रवधू आने लगी बयो निज स्वर्ग विहाय ?  
 । नन्ही दूवा का हृदय निकल पडा यह हाय ।

बता मुझे नख रजनी, तू किन्तु भाँति अरी ।  
 होकर भी भीतर अरुण बाहर हरी हरी ?

अवसर न खो निठल्ली ,  
           बढ जा, बढ जा, बिटपि-निक्कट बल्ली ,  
 अब छोडना न लल्ली ,  
           कदम्ब-अवलम्ब           तू           मल्ली ।

त्रिविध पवन ही था, आ रहा जो उन्ही-सा ,  
 यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्ही-सा ।

प्रिय सदृश हंसा जो, नीप ही था, कहाँ वे ?  
 प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्ही-सा ।

सफल है, उन्ही धनो का घोष,  
वंश वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, सन्तोष ।

नभ में आप विचरते हैं जो ,

हरा घरा को करते हैं जो ,

जल में मोती भरते हैं जो ,

अक्षय उनका कोष ।

सफल है, उन्ही धनो का घोष ।

‘नंगी पीठ [बैठकर घोड़े को उड़ाऊँ कहो ,

किन्तु डरता हूँ मैं [तुम्हारे इस भूले से ,

रोक सकता हूँ ऊँरों के बल से ही उसे ,

टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से ।

किन्तु क्या करूँगा यहाँ !’ उत्तर मे मीने हँस

और भी बढाये पैग दोनो ओर ऊले - से ,

‘हैं-हैं’ कह लिपट गये थे यही प्राणेश्वर ,

बाहर से संकुचित, भीतर से फूले - से !

सखि, आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाये ,

फल कामना नहीं थी, चढा सकी फूल भी न मनभाये !

कुलिश विसीपर कड़क रहे हैं ,  
 आलो, तोयद तड़क रहे हैं ।  
कुछ वहने के लिए लता के  
अरुण अघर वे फड़क रहे हैं ।  
 मैं कहती हूँ—रहें किसीके  
 हृदय वही जो घड़क रहे हैं ।  
 अटक अटककर, भटक भटककर ,  
 भाव वही जो भड़क रहे हैं !

[ निज अलिन्द मे खड़ी थी सखि, एक रात ],  
 रिमझिम बूँदें पड़ती थी घटा छाई थी ,  
 मक रहा था केतकी का गन्ध चारों ओर ,  
 भिल्ली - भूतवार यही मेरे मन भाई थी ।  
 करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपरो से ,  
 चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी ,  
 गोंक देखा मैंने, चुप कोने मे खडे थे प्रिय ,  
 माई ! मुख-लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी !

तम मे तू भी कम नहीं, जी, जुगनू, बडभाग ,  
 भवन भवन मे दीप हैं, जा वन वन मे जाग ।

हा ! वह सहृदयता भी क्रीड़ा में है कठोरता जड़िता ,  
तड़प-तड़प उठती है स्वजनि, घनालिंगिता तड़िता !

गाढ़ तिमिर की बाढ में डूब रही सब सृष्टि ,  
मानो चक्कर में, पड़ी चकराती है दृष्टि ।

लाई सखि, मालिनें थी डाली उस वार जब ,  
जम्बूफल जीजी ने लिये थे, तुझे याद है ?  
मैंने थे रसाल लिये, देवर खड़े थे वही ,  
हंसकर बोल उठे—'निज निज स्वाद है ।'  
मैंने कहा—'रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर ?'  
बोले—'देवि, दोनों ओर मेरा रस-वाद है ,  
दोनों का प्रसाद-भागी हूँ मैं' हाय आली ! आज  
विधि के प्रमाद से विनोद भी विपाद है !

निचोड़ पृथ्वी पर वृष्टि-पानी ,  
सुखा विचित्राम्बर सृष्टिरानी !  
तथापि क्या मानस रिक्त तेरा ?  
बना अभी अंचल सिक्त मेरा ।



✓ | सखि, छिन धूप और छिन छाया ,  
यह सब चौमासे की माया ।

गया श्वास फिर भी यदि आया ,  
तो सजीव है कृश भी काया ।  
हमने उनको रोक न पाया ,  
तो निज - दर्शन - योग गमाया ।

• ले लो, देव जहाँ जो लाया ।  
यह सब चौमासे की माया !

पथ तक जकड़े हैं भाडियाँ डाल घेरा ,  
उपवन वन-सा हा हो गया आज मेरा ।  
प्रियतम वनचारी गेहूँ में भी रहेंगे ,  
कह सखि, मुझसे वे लौटके क्या कहेंगे ?

करे परिष्कृत मालिनें आली, यह उद्यान ,  
करते होंगे गहन में प्रियतम इसका ध्यान ।  
ठीक कहा तूने सखी, अर्पित है यह देह ,  
तू संभालकर रख इसे रखती है ज्यो गेहूँ ।

रह चिरदिन तू हरी - भरी ,  
 बढ, मुख से बढ मृष्टि - सुन्दरी ,  
 सुख प्रियतम की मिले मुझे ,  
 फल जन - जीवन - दान का तुझे ।

हंसो, हंसो हे शशि, फूल, फूलो ,  
 हँसो, हिंडोरे पर बैठ भूलो ।  
 यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ ,  
 भड़ो लगा दूँ, इतना पिये हूँ ।

प्रकृति, तू प्रिय की स्मृति-मूर्ति है ,  
 जड़ित चेतन की श्रुति-पूर्ति है ।  
 रख सजोव मुझे मन की व्यथा ,  
 कह सखी, कह, तू उनकी कथा ।

निरख सखी, ये संजन आये  
 फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये  
 फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरमाये  
 घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड छाये  
 करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये  
 फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक मुहाये  
 स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये  
 नभ ने मोती वारे, लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाये

अपने प्रेम-हिमाश्रु ही दिये दूब ने भेट ,

उन्हे बनाकर रत्न-कण रवि ने लिया समेट ।

प्रिय को था मैंने दिया पद्म-हार उपहार ,

बोले—‘आभारी हुआ पाकर यह पद-भार !’

अम्बु, अवनि, अम्बर मे स्वच्छ शरद की पुनीत क्रीड़ा-सी ,

पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पित्त-पीड़ा-सी !

हुआ विदीर्ण जहाँ तहाँ श्वेत आवरण जीर्ण ,

व्योम शीर्ण कंचुक धरे विपधर-सा विस्तीर्ण !

शफरी, अरी, बता तू

तड़प रही क्यों निमग्न भी इस सर में ?

— रस निज गागर में ,

सो रस-गोरस नही स्वयं सागर में ।

भ्रमरी, इस मोहन मानस के

सुन, मादक हैं रस-भाव सभी ,

मधु पीकर और मदान्ध न हो ,

उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी ।

पड़ जाय न पकज-बन्धन में ,

निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी ,

दिन देस नही सकते सविशेष

किसी जन का सुखभोग कभी !

इस उत्पल - से काय मे हाय ! उपल - से प्राण ?  
रहने दे वक, ध्यान यह, पावे ये दृग त्राण !

हस, छोड़ आये कहां मुक्ताग्रो का देश ? ' .

यहां वन्दिनी के लिए लाये क्या सन्देश ?

हस, हहा ! तेरा भी विगड गया क्या विवेक वन वनके ?  
मोती नही, अरे, ये आँसू हैं ऊर्मिला जन के !

---

चली क्रीचमाला कहां लेकर वन्दनवार ?

किस मुकृती का द्वार वह, जहां मगलाचार !

सखि, गोमुखी गगा रहे, कुररीमुखी करुणा यहाँ ,  
गगा जहाँ से आ रही है, जा रही करुणा वहाँ !

कोक, शोक मत कर हे तात ,  
कोकि, कष्ट मे हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात ।  
धीरज धर, अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात ,  
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख - सुहाग की रात !

हाँ मेरे ! कुञ्जो का कूजन रोक, निराश होकर सोया ,  
यह चन्द्रोदय उसको उड़ा रहा है धवल वसन - सा धोया ।

नैश गगन के गात्र मे पडे फफोले हाय ।  
तो क्या अरी न आह भी करूं आज निरुपाय ?

तारक-चिह्नदुकूलिनो पी पीकर मधु मात्र ,  
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र ।

[ २ ]

आलि, काल है काल अन्त मे ,  
उष्ण रहे चाहे वह शीत ,  
| आया यह हेमन्त दयाकर ,  
देख हमे सन्तप्त-सभीत ।

आगत का स्वागत समुचित है, पर क्या आँसू लेकर ?  
'प्रिय होते तो लेती उसको मैं घी-गुड दे देकर ।

पाक और पकवान रहे, अब  
गया स्वाद का अवसर बीत ,  
आया यह हेमन्त दयाकर ,  
देख हमे सन्तप्त-सभीत ।

हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा ,  
करता रह प्रतिवर्ष यहाँ तू फिर-फिर अपना फेरा ।

व्याज-सहित नहर भर दूँगी मैं ,  
 आने दे उनको हे मीत ,  
 आया यह हेमन्त दया कर ,  
 देख हमे सन्तप्त सभीत ।

सी-सी बरती हुई पार्श्व मे पाकर जव-तब मुझको ,  
 अपना उपकागी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको ।

कवल ही सबल है अब तो ,  
 ले आसन ही आज पुनीत ,  
 आया यह हेमन्त दयाकर ,  
 देख हमे सन्तप्त-सभात ।

बालागुरु की सुरभि उड़ाकर मानो मंगल तारे ,  
 हंसे हसन्ती मे खिल खिलकर अनल कुसुम अगारे ।

आज घुकघुकी मैं मेरी भी  
 ऐसा ही उद्दीप्त अतीत ।

आया यह हेमन्त दयाकर ,

देख हमे सन्तप्त सभीत ।

अब आतप-सेवन मे कौन तपस्या, मुझे न यो छल तू ,  
 तर्प पानी मे पंठा, सखि, चाहे तो वही चल तू ।

नाइन, रहने दे तू, तेल नहीं चाहिए मुझे तेरा ,  
तनु चाहे रूखा हो, मन तो सुस्नेह पूर्ण है मेरा ।

मेरी दुर्बलता क्या

दिखा रही तू अरी, मुझे दर्पण मे ?

देख, निरख मुख मेरा

वह तो धुँधला हुआ स्वय ही क्षण मे ।

एक अनोखी मैं ही

क्या दुबली हो गई सखी, घर मे ,

देख, पद्मिनी भी तो

आज हुई नालशेष निज सर मे ।

पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से—

कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?

बोले—“इस वार देवि, देखने मे भूमि पर

दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की ।”

पूछा यही मैंने एक ग्राम मे तो कर्षको ने

अन्न, गुड, गोरस की वृद्धि ही बखान की ,

किन्तु! ‘स्वाद कैसा है, न जानें, इस वर्ष हाय ।’

यह कह रोई एक अवला किसान की ।

हम राज्य लिए मरते हैं ?  
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्पक ही करते हैं ।

जिनके खेतों में है अन्न ,  
कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?  
पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भव-वैभव भरते हैं ,  
हम राज्य लिए मरते हैं !

वे गो-धन के धनी उदार ,  
उनको सुलभ मुधा की धार ,  
सहनशीलता के आगर वे श्रम-सागर तरते हैं ।  
हम राज्य लिए मरते हैं !

यदि वे करें, उचित है गर्व ,  
वात वात में उत्साव-पर्व ,  
हम-से प्रहरी रक्षक जिनके, वे किससे डरते हैं ?  
हम राज्य लिए मरते हैं !

करके मीन-मेघ सब ओर ,  
किया करे बुध वाद कठोर ,  
शासामयी बुद्धि तजकर वे भूल-धर्म धरते हैं ।  
हम राज्य लिए मरते हैं ।



होते वही वही हम लोग ,

कोन भोगता फिर ये भोग ?

उन्ही अन्नदाताओं के सुख आज दुःख हरते हैं !

हम राज्य लिए मरते हैं !

प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार ,

मृत्यु-दण्ड उन तात को, राज्य, तुम्हे धिक्कार !

चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभग ,

धूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के सग !

प्रियतम प्रभु के सग आयेंगे तब हे सजनी ,

अब दिन पर दिन गिनो और रजनी पर रजनी !

पर पल पल ले रहा यहाँ प्राणों से टक्कर ,

कलह मूल यह भूमि लगावे चौदह चक्कर !

सिकुड़ा सिकुड़ा दिन था, समीत-सा शीत के कसाले से

सजनी, यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से

आये सखि, द्वार-पटी हाथ से हटाके प्रिय

वचक भी वचित - से कम्पित विनोद मे ,

‘ओढ़ देखो तनिक सुम्ही तो परिचान यह’

बोले डाल रोमपट मेरी इस गोद में ।

क्या हुआ, उठी मैं भट प्रावरण छोड़कर  
 परिणत हो रहा था पवन प्रतोद में,  
 हर्षित थे तो भी रोम रोम हम दम्पति के  
 कर्षित थे दोनों बाहु-वन्धन के मोद में।

करती है तू शिगिर का बार बार उल्लेख,  
 पर सखि, मैं जल-भी रहो, घुर्वाधार यह देख !

सचमुच यह नोहार तो अब तू तनिक निहार,  
 ग्रन्थकार भी शीत से श्वेत हुआ इस बार !

कभी गमकता था जहाँ कस्तूरी का गन्ध,  
 चौंक चमकता है वहाँ आज मनोमृग ग्रन्ध !

शिशिर, न फिर गिरि-वन में,  
 जितना मंगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में।  
 कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।  
 सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन मे ?  
 वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,  
 तो मोती-सा मैं अर्किचना रखूँ उसको मन में।  
 हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं,—अपने इस जीवन में,  
 तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या ही भाव-भुवन में !

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,  
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा ।

भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?  
तक झरोखे से न, लौट जा, गूँजें तुझमें तार जहाँ ।

मेरी वोणा गीली गीली ;  
आज हो रही ढीली ढीली ;  
लाल हरी तू पीली नीली ;

कोई राग न रग यहाँ ।

भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?  
शीत काल है और सवेरा ;  
उछल रहा है मानस मेरा ;  
भरे न छोटों से तनु तेरा ;

(( रुदन जहाँ क्या गान वहाँ ?  
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?

मेरी दशा हुई कुछ ऐसी ;  
तारों पर अँगुली की जैसी ;  
कसक परन्तु मीड़ भी कैसी ?

कह सकती है नहीं न हाँ !  
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?

न तो अगति ही है न गति, आज किमी भी ओर,  
इस जीवन के भाड मे रही एक भकभोर !

पाऊँ मैं तुम्हे आज, तुम मुझको पाओ ,  
ले लूँ अचल पसार, पीतपत्र, आओ ।

फूल और फल-निमित्त ,

बल देकर स्वरस-वित्त ,

लेकर निश्चिन्त चित्त ,

उड न हाय ! जाओ ,

लूँ मैं अचल पसार, पीतपत्र, आओ ।

तुम हो नीरस शरीर ,

मुझमे है नयन-नीर ,

इसका उपयोग दोर ,

मुझको बनलाओ ।

लूँ मैं अचल पसार, पीतपत्र, आओ ।

जो प्राप्ति हो फूल तथा फलो की ,

मधूक, चिन्ता न करो दलो की ।

हो लाभ पूरा पर हानि थोड़ी ,

हुआ करे तो वह भी निगोड़ी ।

श्लाघनीय हैं एक - से, दोनों ही द्युतिमन्त ,  
'जो वसन्त का आदि है, वही शिशिर का अन्त ।

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है ,  
भुवन तो मन के अनुरूप है ।  
हँसित कुन्द रहे कवि का कहा ,  
सखि, मुझे वह दाँत दिखा रहा !

हाय ! अर्थ की उल्लेखता देगो किसे न ताप ?  
घनद-दिशा में तप उठे, आतप-पति भी आप ।

अपना सुमन लता ने  
निकालकर रख दिया, विना बोले ,  
आलि, कहाँ वनमाली ,  
झड़ने के पूर्व झाँक हो जो ले ?

काली काली कोइल बोली—  
होली—होली—होली !  
हँसकर लाल लाल होठों पर हरयाली हिल डोली ,  
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पोली पोली चोली ।  
होली—होली—होली !

अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोली,  
मल दी ऊषा ने अम्बर मे दिन के मुख पर रोली।

होली—होली—होली !

रागी फूलो ने पराग से भर ली अपनी भोली,  
और ओस ने केसर उनके स्फुट-सम्पुट मे घोली।

।

होली—होली—होली !

ऋतु ने रवि-शशि के पलडो पर तुल्य प्रकृति निज तोली,  
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन-भावना भोली ?

होली—होली—होली !

गूँज उठी खिलती कलियों पर उड़ अलियों की टोली,  
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली।

होली—होली—होली !

जा, मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,  
लगे न तू होकर कही तू अपने को आप !

।

भ्रमर, इधर मत भटकना, ये खट्टे अगूर,  
लेना चम्पक - गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर।

सहज मातृगुण गन्ध था कर्णिकार का भाग ;  
विगुण रूप-दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग !

मुझे फूल मत भारो ,  
 मैं अबला वाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो ,  
 होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु, गरल न गारो ,  
 मुझे विकलता, तुम्हे विफलता ठहरो, श्रम परिहारो !  
 नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो ,  
 बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हरनेन निहारो !  
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हे तो मेरे पति पर वारो ,  
 लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो !

फूल ! खिलो आनन्द से तुमपर मेरा तोष ;  
 इस मनसिज पर ही मुझे दोष देखकर रोष ।

आई हैं सशोक मैं अशोक, आज तेरे तले ,  
 आती है तुम्हे क्या हाय ! सुध उस बात की ।  
 प्रिय ने कहा था—‘प्रिये, पहले ही फूला यह ,  
 भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की !’  
 देवी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर ,  
 वक्ष भर मैंने भी हँसी यो अक्स्मात् को—  
 ‘भूलते हो नाथ, फूल फूलते कैसे, यदि  
 ननद न देती प्रीति पद-जलजात की !’

सूखा है यह मुख यहाँ, सूखा है मन आज ,  
किन्तु सुमन-मकुल रहे प्रिय का वकुल-समाज ।

करूँ बड़ाई फूल की या फल की चिरकाल ?  
फूला - फला यथार्थ मे तू ही यहाँ रसाल ।

देखूँ मैं तुझको सत्रिलाम ,  
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

अतुल अम्बुकुल-सा अमल भला कौन है अन्य ?  
| अम्बुज, जिसका जन्य तू धन्य, धन्य, ध्रुव धन्य ।

साधु सरोवर-विभव-विकास ।

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

कब फूलो के साथ फल, फूल फलो के साथ ?  
तू ही ऐसा फूल है फल है जिसके हाथ ।

ओ मधु के अनुपम आवास ,

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

एक मात्र उपमान तू, हैं अनेक उपमेय ,  
रूप - रंग, गुण - गन्ध मे तू ही गुरुतम गेय ।

ओ उन अगो के आभास ।

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।



तू मुषमा का कर कमल, रति-मुखाब्ज उद्ग्रीव ;  
तू लीला - लोचन नलिन, ओ प्रभु - पद राजोव ।

रच लहरो को लेकर रास ,

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

सहज सजल सौन्दर्य का जीवनधन तू पद्म ,  
आर्य जाति के जगत की लक्ष्मी का शुभ सन्ध ।

क्या यथार्थ है यह विश्वास ,

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

रहकर भी जल - जाल में तू अलित अरविन्द ,  
फिर तुझपर गूंजे न क्यों कविजन-मनोमिलिन्द !

कौन नही दानी का दास ?

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

तेरे पट है खोलता आकर दिनकर आप ,  
हरता रह निष्पाप तू हम सबके सन्ताप ।

ओ मेरे मानस के हास !

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

पैठी है तू पद्मपदी, निज सरसिज मे लीन ;

सप्तपदी देकर यहाँ बँठी मैं गति - हीन !

बिखर कली भडती है, कव सोखी किन्तु सकुचित होना ?  
संकोच किया मैंने, भीतर कुछ रह गया, यही रोना !

अरी, गूँजती मधुमक्खी ,  
किसके लिए बता तूने वह रस की मटकी रक्खी ?

किसका सचय देव सहेगा ?

काल घात मे लगा रहेगा ,

व्याध बात भी नहीं कहेगा ;

लूटेगा घर लक्खी ।

अरी, गूँजती मधुमक्खी ।

इसे त्याग का रंग न दीजो ,

अपने श्रम का फल है, लीजो ,

जयजयकार कुसुम का कीजो ,

जहाँ सुधा-सी चक्खी !

अरी, गूँजती मधुमक्खी !

खि, मैं भव-कानन मे निकली ,

वनके इसकी वह एक कली ,

खिलते खिलते जिससे मिलने

चड़ आ पहुँचा हिल हेम - अली ,

मुसकाकर आलि, लिया उसको ,  
 तब लौ यह कौन बयार चली ,  
 'पथ देख जियो' कह गूँज यहाँ  
 किस ओर गया वह छोड़ छली ?

छोड़, छोड़, फूल मत तोड़, आली, देख मेरा  
 हाथ लगते हो यह कैसे कुम्हलाये हैं ?  
 कितना विनाश निज क्षणिक विनोद मे है ,  
 दुखिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं ।  
 किन्तु नहीं, झुन ले सह्यं खिले फूल सब  
 रूप, गुण, गन्ध से जो तेरे मनभाये है ,  
 जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए ,  
 गौरव के सग चढ़ने के लिए जाये हैं ।

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तुम्हें खिलने की ,  
 जैसी मिलती जुलती उच्चाशा है भली मुम्हें मिलने की ।

मान छोड़ दे, मान अरी ,  
 कली, अली आया, हँसकर ले, यह वेला फिर कहाँ धरी ?  
 सिर न हिला भोको मे पडकर, रख सहृदयता सदा हरी ,  
 छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर घूलि भरी !

भिन्न भी भाव-भगी में भाती है रूप-सम्पदा ,  
 फूल धूल उडाके भी आमोदप्रद है सदा ।  
 फूल, रूप-गुण में कही मिला न तेरा जोड़ ,  
 फिर भी तू फल के लिए अपना आसन छोड़ ।

सखि, विसर गई हैं कलियाँ ;  
 कहाँ गया प्रिय भुकामुकी में करके वे रंग - रलियाँ ।  
भुला सकेगी पुनः पवन को अब क्या इसकी गलियाँ ?  
 यही बहुत, ये पचे उन्हीमे जो थी रंगस्थलियाँ ।

कह कथा अपनी इस घ्राण से ,  
 उड़ गये मधु - सौरभ प्राण-से ।  
 फल मिलें हमको-तुमको सखी ,  
 तदपि बीज रहें सब घ्राण से ।

उठती है उर में हाय ! हूक  
 ओ कोइल, कह, यह कौन कूक !  
 क्या ही सकरण, दारुण, गभीर ,  
 निकली है नभ का चित्त चोर ,  
 होते हैं दो दो दृग सनीर ,  
 लगती है लय की एक लूक !  
 ओ कोइल, कह, यह कौन कूक ?

तेरे क्रन्दन तक मैं सु-गान ,  
 सुनते हैं जग के कुटिल कान ,  
 लेने में ऐसा रस महान ।

हम चतुर करें किस भाँति चूक !  
 ओ कोइल, कह, यह कौन कूक ?  
 रो, आवेगा फिर भी वसन्त ,  
 जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त ।  
 दुःखों का भी है एक अन्त ,  
 हो रहिए दुर्दिन देख भूक ।  
 ओ कोइल, कह, यह कौन कूक ?

अरे एक मन, रोक थाम तुम्हें मैंने लिया ,  
 दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया रो दिया !

हे मानस के मोती, डलक चले तुम कहाँ बिना कुछ जाने ?  
 प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में है कौन जो तुम्हें पहचाने ?

न जा अधीर घूल में ,  
 दृगम्बु, आ, दुक्कल में ।  
 रहे एक ही पानी चाहे हम दोनों के मूल में ,  
 मेरे भाव आसुओं में हैं, और लता के फूल में ।  
 दृगम्बु, आ, दुक्कल में ।

फूल और आंसू दोनों ही उठें हृदय की हूल में,  
मिलन सूत्र सूची से कम क्या अनी विरह के शूल में  
दृगम्बु आ, दुक्कल में  
मधु हँसने में, लवण रदन में, रह न कोई भूल में  
मौज किन्तु मँझवार बीच है किंवा है वह बूल में ।  
दृगम्बु, आ, दुक्कल में :

नयनो को रोने दे, मन, तू सकीरां न बन, प्रिय बँटे हैं  
आँखों से ओमल हो, गये नहीं वे कही, यही पँटे हैं ।  
आँख, बता दे तू ही, तू हँसती या मथार्थ रोती है ।  
तेरे अघर-दगन ये, या तू भर अश्रु किन्दु दोनों है ।

( वने रहो मेरे नयन, मातसजल में लीन, ।  
माना है प्रिय ने तुम्हे अपना क्रीडा-मीन ।

सखे, जाओ तुम हँसकर भूल, रहूँ मैं मुघ करके रोती ।।  
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती ।।  
मानती हूँ, तुम मेरे साध्य,  
अहर्निश एक मात्र आराध्य,  
साधिका मैं भी किन्तु अवाध्य,

जागती होऊँ, या सोनी ।  
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती ।

सफल हो सहज तुम्हारा त्याग ,  
 नहीं निष्फल मेरा अनुराग ,  
सिद्धि है स्वयं साधना-भाग ,

मुधा क्या, क्षुधा जो न होती !  
 तुम्हारे हँसने में है फूल, हमारे रोने में मोती !  
 काल की रुके न चाहे चाल ,  
 मिलन से बड़ा विरह का काल ;  
वहाँ लय, यहाँ प्रलय सुविशाल !

दृष्टि में दर्शनार्थ धोती !  
 तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती !

अर्थ, तुम्हें भी हो रहो पदप्राप्ति की चाह ?  
 क्या इस जलते हृदय में नहीं और निर्वह ?

स्वजनि, रोता है मेरा गान ,  
 प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान ।

झिलता नहीं समीर पर इस जी का जजाल ,  
 झड़ पड़ते हैं शून्य में बिखर सभी स्वर-ताल ।

विफल आलाप - विलाप समान ,  
 स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

उड़ने को है तड़पता मेरा भावानन्द ,  
व्यर्थ उसे पुचकारकर फुसलाते हैं छन्द ।

दिलाकर पद-गौरव का ध्यान ।

स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात ,  
अपनी ही आँखें उसे ढाल रही दिन-रात ।

जना दते है सभी अजान ,

स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

दुख भी मुझसे विमुख हो करें न कहो प्रयाण ,  
आज उन्हीमे तो तनिक अटके हैं ये प्राण ।

विरह मे आ जा, तू हो मान ।

स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

यही आता है इस मन मे ,  
छोड़ घास-घन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन मे ।

प्रिय के व्रत मे विघ्न न डालूँ, रहूँ निक्कट भी दूर ,  
व्यथा रहे, पर साथ साथ ही समाधान भरपूर ।

हर्ष हुआ हो रोदन मे , ✓

यही आता है इस मन मे ।



बीच बीच में उन्हें देख लूं मैं भुरमुट की ओट ,  
जब वे निकल जायें तब लेटूं उसी धूल में लोट ।

रहे रत वे निज साधन में ,  
यही आता है इस मन में ।

जाती जाती, गाती गाती, कह जाऊँ यह बात—  
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात ।

प्रेम की ही जय जीवन में ।  
यही आता है इस मन में ।

अब जो प्रियतम को पाऊँ !  
तो-इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ !  
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ ,  
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ ।  
ऊपा-सी आई थी जय में, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ ?  
श्वान्त पवन-से वे आवें मैं सुरभि - समान समाऊँ !  
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ ,  
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ !  
इधर अनल है और उधर जल, हाय ! किपर मैं जाऊँ !  
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हाहा लाऊँ ?

उठ अवार न पार जाकर भी गई ,  
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई !

अटक जीवन के विशेष विचार मे ,  
भटकती फिरती स्वयं भँझधार में ,  
सहज कर्पण कूल, कुछ, कछार मे ,  
विषमता है किन्तु वायु-विकार मे ,  
ओर चारों ओर चक्कर हैं कई ,  
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई !

पर विलीन नहीं, रहूँ गतिहीन मैं ,  
दैन्य से न दबूँ कभी, वह दोन मैं ।  
अति अवश हूँ, किन्तु आत्म-अधोन मैं ,  
सखि, मिलन के पूर्व ही प्रिय-लीन मैं ।

कर सका सो कर चुका अपना दर्द ,  
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई !

आये एक वार प्रिय बोले—‘एक बात कहूँ  
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान में !  
मैंने कहा—‘कौन यहाँ?’ बोले—‘प्रिये, चित्र तो हैं,  
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान मे ।

लाल किये कर्णमूल होठो से उन्होंने कहा—

‘क्या कहूँ सगद्गद हूँ, मैं भी छद-दान में ;  
कहते नहीं हैं, करते हैं कृती !’ सजनी मैं  
स्त्रीभ के भी रीझ ! उठी उस मुसकान में !

मेरे चपल धीवन-बाल !  
अचल अंचल में पड़ा सो, मचलकर मत साल ,  
बीतने दे रात, होगा मुप्रभात विशाल ,  
खेलना फिर खेल मन के पहनके मणि-माल ।  
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य-रसाल ,  
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल ।  
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल ,  
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

यही वाटिका थी, यही थी मही ,  
यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही ।  
यही बल्लकी में लिये गोद में ,  
उसे छेड़ती थी महामोद में ।  
यही कण्ठ था, कौन-सा गान था ?—  
‘न था दुर्ग तू, मानिनी-मान था !’

यही टेक मैं तन्मयी छोर से ,  
 लगी छेड़ने कान्त की ओर से ।  
 अकस्मात् निःशब्द आये जयी ,  
 मनोवृत्ति थी नाथ की मन्मयी ।  
 सखी, आप ही आप वे हँसे—  
 'बड़े वीर थे, आज अच्छे फंसे !'  
 हँसी मैं, अजी, मानिनो तो गई ,  
 बधाई ! मिली जीत यो ही नई !  
 'प्रिये, हार मे ही यहाँ जीत है ।  
 रुका क्यों तुम्हारा नया गीत है ?'  
 जहाँ आ गई चाप - टकार है ,  
 वहाँ व्यर्थ - सो आप भंकार है ।  
 'प्रिये, चाप-टंकार तो सो रही ,  
 स्वयं मग्न भंकार मे हो रही ।'  
 भला !—प्रश्न है किन्तु ससार मे—  
 भली कौन भंकार - टकार में ?  
 'शुभे, धन्य भंकार है धाम मे ,  
 रहे किन्तु टकार सग्राम में ।  
 इसी हेतु है जन्म टंकार का ,  
 न टूटे कभी तार भंकार का ।

यहो ठीक, टकार सोती रहे ,  
 सभी ओर भकार होती रहे ।  
 मुनो, किन्तु है लोभ ससार मे ,  
 इसी हेतु है क्षोभ ससार में ।  
 हमें शान्ति का भार जो है मिला ,  
 इसी चाप को कोटियो से भिला ।'

हुआ,—किन्तु कोदण्ड-विद्या-कला ,  
 भुझे व्यर्थ, क्यों और सीखूं मला ?  
 भले ऊर्मिला के लिए गान, ये ,  
 विवादी स्वरों से बचें कान, ये ।  
 कहूँ शिष्यता क्यों तुम्हारो ग्रहो ,  
 वनूं तात्रिकी शिक्षिका जो ग्रहो ।  
 णों को धरो तो सही चाप मे ,  
 हो, खीच लूं मैं स्वरालाप से !  
 प्रभो खीच ही जो लिया है ! रहो ,  
 नी शिष्य से शिक्षिका, क्यों न हो !  
 ,म्हारी स्वरालाप-धारा बहे ,  
 डा कूल में चाप मेरा रहे ।'

इसी भाँति आलाप-संलाप में,  
 ( न ऐसे महाशाप में, ताप में, )  
 हमारा यहाँ काल था बीतता,  
 न सन्तोष का कोश था रीतता ।  
 हरे ! हाय ! क्या से यहाँ क्या हुआ ?  
 उड़ा हो दिया मन्यरा ने सुग्रा !  
हिया-पीजरा शून्य माँ को मिला,  
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला !

.. ॥ वह जो देखा, देखूंगी फिर क्या कभी ?  
 तस प्रत्यक्ष से मेरा परिचरण कहाँ ! अभी ?

कूडे से भी आगे  
 पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते,  
 दिन बारह वर्षों में  
 धूँडे के भी सुने गये हैं फिरते !

रस पिया सखि, नित्य जहाँ नया,  
 अब अलभ्य वहाँ विप हो गया !  
भरण-जीवन की यह संगिनी  
वन सकी वन की न बिहंगिनी !

सखि, यहाँ सब ओर निहार तू ,  
 फिर विचार अतीत विहार तू ।  
 उदित - से सब हास - विलास है ,  
 हृदित-से सब किन्तु उदास है ।  
 स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूँ ,  
 कुशल तो, अपनापन खो सकूँ ।  
 शपथ है उपचार न कीजियो ,  
 अवधि को सुध ही तुम लीजियो ।  
 अस इसी प्रिय-कानन-कुञ्ज मे ,  
 मिलन-भाषण के स्मृति-पुञ्ज में ,  
 अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो ,  
 हसन-रोदन से न पसीजियो ।  
 सखि, न मृत्यु न आधि, न व्याधि ही ,  
 समझियो तुम स्वप्न-समाधि ही ।  
हहह ! पागल हो यदि ऊर्मिला ,  
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला ।  
 प्रिय यहाँ वन से जब आयेंगे ,  
 सब विकार स्वयं मिट जायेंगे ।  
 न सपने सपने रह पायेंगे ,  
 प्रकटता अपनी दिखलायेंगे ।

अब भी समक्ष वह नाथ, खड़े,  
बढ़ किन्तु रिक्त यह हाथ पड़े।  
न वियोग है न यह योग सखी,  
कह, कौन भाग्य-भय भोग सखी ?

विचारती हूँ सखि, मैं कभी कभी ।  
अरण्य से हैं प्रिय लौट आते ।  
छिपे छिपे आकर देखते सभी  
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते ।

आते यहाँ नाथ निहारने हमे,  
उद्धारने या सखि, तारने हमे ?  
या जानने को, किस भाँति जी रहे ?  
तो जान लें वे, हम अश्रु पी रहे ।

सखि, विचार कभी उठता यही—  
अवधि पूर्ण हुई, प्रिय आ गये ।  
तदपि मैं मिलते सकुचा रही,  
वह वही, पर आज नये नये ?



निरखतो सखी, आज मैं जहाँ ,  
 दयति - दोषि हो दोखतो वहाँ ।  
 हहह ! ऊर्मिला भ्रान्त है रहे ,  
 यह असत्य तो सत्य भी बहे ।  
 ज्वलित प्राण भी प्राण पा गये ,  
 सुभग आ गये, कान्त, आ गये !  
 निकल हस - से केकि - कुञ्ज से ।  
 निरख वे खड़े प्रेम - पुञ्ज - से !  
 रुचिर चन्द्र की चन्द्रिका खिली ,  
 निज अशोक से माधवी मिली ।  
 अवधि होगई पूर्ण अन्त में ,  
 सुयश छा रहा है दिगन्त में ।  
 स्वजनि, वन्य है आज की घड़ी ,  
 तदपि सिद्ध - सी तू यहाँ खड़ी !  
 त्वरित आरती ला, उतार लूँ ,  
 पद दृगम्बु से मैं पखार लूँ ।  
 चरण हैं भरे देख, धूल से ,  
 विरह - मिन्धु में प्राप्त कूल - से ।  
 विकट क्या जटाजूट है बना ,  
 भृकुटि युग्म में चाप - सा तना ।

वदन है भरा मन्द हास मे ,  
 गलित चन्द्र भी श्रो - विलास से ।  
 ललित कन्धरा, कण्ठ कम्बु - सा ,  
 नयन पद्म - से, ओज अम्बु - सा ,  
 तनु तपा हुआ शुद्ध हेम है ,  
 सुलभ योग है और क्षेम है ।  
 उदित ऊर्मिला - भाग्य धन्य है ,  
 अब कृती वहाँ कौन अन्य है !

विजय नाथ की हो सभी कही ,  
 तदपि क्यों खड़े हो गये वही ?  
 प्रिय, प्रविष्ट हो, द्वार मुक्त है ,  
 मिलन - योग तो नित्य युक्त है ।  
 तुम महान हो और हीन मैं ,  
 तदपि, धूल - सी अघ्रि-लीन मैं ।  
 दयति देखते देव भक्ति को ,  
 निरखते नहीं नाथ, व्यक्ति को ।  
 तुम बड़े, बने और भी बड़े ,  
 तदपि ऊर्मिला - भाग मे पड़े ।

अब नहीं, रही दीन मैं कभी ,  
 तुम मुझे मिले तो मिला सभी ।  
 प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा ,  
 कि जिनके लिए था मुझे तजा ?  
 वह नहीं फिरे ? क्या तुम्ही फिरे ?  
 हम गिरे अहो ! तो गिरे, गिरे ।  
 दयित, क्या मुझे आर्त्त जानके ,  
 अधिप ने अनुक्रोश मानके ,  
 घर दिया तुम्हे भेज आप ही ?  
 यह हुआ मुझे और ताप ही ।  
 प्रिय, फिरो, फिरो हा ! फिरो, फिरो !  
 न इस मोह की घूम से घिरो ।  
 विकल मैं यहाँ, किन्तु गर्विणी ,  
 न कर दो मुझे नष्टगर्विणी ।  
 घर फिरे तुम्ही मोह से कही  
 तब हुए तपोभ्रष्ट क्या नहीं ?  
 च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा ,  
 ' धिक ! वृथा हुई ऊर्मिला-व्यथा ।  
 ममय है अभी, हा ! फिरो, फिरो ,  
 तुम न यो यश-स्वर्ग से गिरो ।

प्रभु दयालु है, लौट के मिलो,  
 न उनके कुटी द्वार से हिलो।  
 निरखती अभी एक मान मैं,  
 पर अभिन्न हूँ, अद्व गात्र मैं।  
 यह सखी मुझे मत्त मानती,  
 कुशल मैं यही आज जानती।  
 अवश रो रहे प्राण ये धँसे,  
 तदपि कौन है, जो मुझे हँसे ?  
 अब हँसी न हो, और क्या कहूँ ?  
 तुम ब्रती रहो, मैं सती रहूँ।

धिक ! तथापि हा सामने खडे ?  
 तुम अलज्ज से क्यों यहाँ अडे ?  
 जिघर पीठ दे दीठ फेरती,  
 उघर मैं तुम्हे ढीठ, हेरती।  
 तुम मिलो मुझे धर्म छोड़के,  
 फिर मरूँ न क्यों मुण्ड फोड़के ?  
 यह नरीर लो, प्राण ये बुझे,  
 घर न हा सखी, छोड़ दे मुझे।

स्वजनि, क्या कहा—‘वे यहाँ कहाँ ?’  
 तदपि दीखते हैं जहाँ तहाँ ?  
 यह यथार्थ उन्माद, भ्रान्ति है ?  
 ठहर तो मिटा क्षोभ शान्ति है ।  
 धिक् ! प्रतीत भी की न नाथ की ,  
 पर न थी सखी, बात हाथ की ।  
 प्रतिविधान मैं क्या करूँ बता ,  
 इस अनर्थ का भी कही पता ।  
 अधम ऊँमिले, हाथ निर्दया !  
 पतित नाथ हैं ! तू सदाशया ?  
 नियम पालती एक मात्र तू ,  
 सब अपात्र हैं, और पात्र तू ?  
 मुहं दिखायगी क्या उन्हे घरी ,  
 मर ससशया, क्यों न तू मरी ।  
सदय वे, बता किन्तु चचला ,  
 वह क्षमा सही जायगी भला ?

विसरता नही न्याय भी दया ,  
 बस रहो प्रिये, जान मैं गया ।

तुम अधीर हो तुच्छ ताप मे,  
 रह सकी नहीं आप आपमे।  
 न उस घूप मे और मेह मे,  
 तुम रही यहाँ राजगेह मे।  
 विदित क्या तुम्हे, देवि, क्या हुआ,  
 रुधिर स्वेद के रूप मे चुआ।  
विपिन मे कभी सो सका न मैं,  
 अधिक क्या कहूँ, रो सका न मैं।  
 वचन ये पुरस्कार मे मिले,  
 अहह मिले। हाय उर्मिले।  
 गिन सको, गिनो शूल, जो चुभे,  
 सहज है समालोचना शुभे।  
 कठिन साधना किन्तु तत्व की,  
 प्रथम चाहिए सिद्धि सत्व की।  
 कठिन कर्म का क्षेत्र था वहाँ,  
 पर यहाँ ? कहो देवि, क्या यहाँ ?  
 उलहना कभी दैव को दिया,  
 बहुत जो किया नेक रो लिया।  
 सतत पुण्य या पाप सगिनो,  
 समझता रहा आत्मअग्निनी।

स्वपति-पुण्य ही इष्ट था तुम्हे ,  
 कटु मुझे, तथा मिष्ट था तुम्हे ?  
 प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं ? भला !  
 मत छुमो मुझे, लौट मैं चला !  
 तुम सुखी रहो हे विरागिनी ,  
 वस विदा मुझे पुण्यभागिनी !  
 हट सुलक्षणे, रोक तू न यो ,  
 पतित मैं, मुझे टोक तू न यो ।  
 विवश लक्ष्—'नही, ऊर्मिला हहा !'  
 किंवर ऊर्मिला ? आलि, क्या कहा ?

फिर हुई अहा ! मत्त ऊर्मिला ,  
 सखि, प्रियत्व था क्या मुझे मिला ?  
 यह वियोग या रोग, जो कहे ,  
 प्रियमयी सदा ऊर्मिला रहे ।

उन्मादिनी कभी थी ,

विवेकिनो ऊर्मिला हुई सखि, अय है ;

अज्ञान भला, जिसमे

सोह तो क्या, स्वय अह भो कब है ?

अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार ,  
तिल तिल काट रही थी दृग-जल-धार । ✓



लहरें उठती लथेड़ती ,  
 घर नीचे कितना थपेड़ती ,  
 पर ऊपर एक चाल से ,  
 स्थित नक्षत्र अदृष्ट-जाल-से !  
 तम में क्षिति-लोक लुप्त यो ,  
 अलि नीलोत्पल में प्रमुक्त ज्यों ।  
 हिम - बिन्दुमयी, गली ढली ,  
 उसके ऊपर है नभस्थली ।  
 निज स्वप्न - निमग्न भोग है ,  
 रसता आन्ति-सुषुप्ति योग है ।  
 थक तन्द्रित राग - रोग है ;  
 अब जो जाग्रत है, वियोग है !

जल से तट है सटा पडा ,  
 तट के ऊपर है अटा खडा ।  
 खिड़की पर ऊमिला खडी ,  
मुहें छोटा, अँखियाँ बड़ी बड़ी !

कृश देह, विभा भरी भरी ,  
 घृनि सूखी, स्मृति ही हरी हरी !

उदु योज न दृष्टिगो चुगें ,  
 गतिता , धीर धनी उमें उमें !  
 तब ऊपर दृष्टि गरी तम् ?  
 का नीचे गरू, दगे धम् ।  
 दगना तब गरुं में भम् ,  
 जन परा है  
 पर यों न  
 गर ती है ।  
 मुभाती ग  
 वग यो ही  
 निम्नु ज्यों ।  
 ध्रुव विज्ञान गुधा पला रहा ।  
 यह मोम मुने हिला रहा ,  
 प्रिय वा. ध्यान यही जिला रहा ।  
 उनके गुण-जाव में पड़ी ;  
 स्मृतियद्धा जिनकी बड़ी बड़ी ,  
 तद्वे यह प्रीति पक्षिणी ;  
 गति, है विन्तु प्रतीति रक्षिणी ।  
 विपगल परान काग है ,  
 कर में दण्ड लिये विशाल है ।

पर दाहक आह है यहाँ ,  
 करती चर्वण चाह है यहाँ !  
 भय में मत आप पैठ जा ,  
 सखि, बैठे हम, नैक बैठ जा ।  
 यह गन्ध नहीं बिखेरता ,  
 वन-सोता वन-पार्श्व फेरता ।  
 सुनसान सभी सपाट है ,  
 अब सूने सब घाट-वाट है ।  
 जड़ - चेतन एक हो रहे ,  
 हम जागे, सब और सो रहे !  
 निधि निर्जन में निहारती ,  
 अपने ऊपर रत्न बागती ,  
 कितनी सुविशाल सृष्टि है ,  
 जितनी हा लघु लोक-दृष्टि है !  
 तम भूतल - वस्त्र है बना ,  
 नभ है भूमि-वितान-सा तना !  
 वह पावक सुप्त राख में ,  
 बस दो हैं जल-वायु साख में ।  
 सरयू कब बलान्ति पा रही ,  
 अब भी सागर ओर जा रही ।

ਸਮਿ ਸੇ, ਬੰਧਗਾਣ ਹੈ ਸਹੇ ,  
ਜਨ ਕਾ ਭਾਗ-ਯਾਣ ਹੈ ਸਹੇ ।

ਸਭ, ਸਭੁਗਾਣ ਬਧ ਕੀ ,  
ਸਭਿ ਕੇ ਭਰਮਰਾਣ ਬਧ ਬਧ ਕੀ ,  
ਸੁਖ, ਸੁ ਭਿਯਾਣ ਸਾਧਨਾ ,  
ਬੰਧ ਗਾਣ-ਭਿਯੋ-ਭਾਣ-ਭਾ !  
ਭਯ ਸਭੁਗ ਬੀ ਭਯਯਾ ,  
ਭਿਯੋ ਭ-ਭ ਭਯਯਾ ਭਯ ,  
ਭਿਯਾ ਭਯ ਭੋਭ ਭਾ, ਭਯੋ ,  
ਭਯਕੀ ਸੁ ਭਯ ਸਭ-ਭਾਭਿਯੋ ।  
ਭਿਯਾ ਭਯ ਭੋਭ ਹੈ ਭਯਾ ,  
ਭਿਯੋ ਭਯਯਾ-ਭਯੋ ਹੈ ਭਯਾ ?  
ਭਯੋ ਭਯ ਹੈ ਭਯੋ ਭਯਾ ,  
ਸਭ, ਸੁ ਭਯ-ਭੀਯੋ ਭਯਾ !  
ਭਯ-ਭਾਭ ਭਯਾ ਭਯਾ ਭਾ ,  
ਭਿਯਾ ਭੋਭ ਭਯਾ ਭਯਾ ਭਾ !  
ਭਯ ਭਾਭ ਭੋਭ-ਭਾਭਿਯੋ ,  
ਭਯੋ ਭਿਯੋ-ਭਯ ਭੋਭ ਭਾਭਿਯੋ !

किसने निज पुत्र भी तजा ?  
 किसने यो कृतकृत्य की प्रजा ?  
 किसने शत यज्ञ है किये—  
 पदवी वासव की बिना लिये ?  
 सुन, है कहते कृती कवि—  
 मिलती सागर को न जाह्नवी ,  
 स्व-भगीरथ-यत्न जो कही ,  
 करते वे सरयू - सखा नही ।  
 किसने मख विश्वजित् किया ?  
 रत्न मृत्पात्र सभी लुटा दिया ?—  
 न—न, बेच दिया स्वगात्र ही ,—  
 रख दानव्रत-मान मात्र ही ?  
 जिसका गत यो महान है ,  
 सबके सम्मुख वर्त्तमान है ,  
 कल से यह आज चौगुना ,  
 उसका हो सुभविष्य सौगुना ।

वश मे जिसका भविष्य है ,  
 श्रुति-द्रष्टा ऋषि-वृन्द शिष्य है ,

नचती श्रुतिकीर्ति ताण्डवी ,  
 नदि, देती करताल माण्डवी ।  
 भरती स्वर ऊर्मिला सजा ,  
 गटती गीत गभीर अग्रजा ।  
 सरयू, विसरा विवेक है ,  
 फिर भी तू सुन एक टेक है :—

‘मुझसे समभाग छाँट ले ,  
 पुतली, जी उठ,—जीव बाँट ले !

अपना कह आप मोल तू ,  
 स्वपदो से उठ, खेल, डोल तू ।  
 मन की कह, नँक बोल तू ,  
 यह निर्जीव समाधि खोल तू ।

पुचकार मुझे कि डाँट ले ,  
 पुतली, जी उठ—जीव बाँट ले !

सुन-देख, स्वकर्ण-दृष्टि है ,  
 कितनी कूजित-कान्त सृष्टि है !  
 मुझसे यह हार्द हृष्टि है ,  
 सुख की आँगन में सुवृष्टि है ।

अपना रस आप आँट ले ,  
 पुतली, जी उठ,—जीव बाँट ले ।’

वह भी बस स्वानुकूल थी ,  
 रसती प्लावित मोद मूल थी ।  
 तुझमे बहु वाग् चक्र है ,  
 बितने कच्छप और नक्र है ।  
 वह तो चिरवाल बालिका ,  
 लघुमीना, लघु वोचिमालिका ।  
 बहु मीन रागीष डोलते ,  
 हमको घेर मराल बोलते ।  
 सब प्रत्यय के अधीन हैं ,  
 खग हैं या भृग है कि भीन हैं ।  
 वह सैकत शिल्प युक्तियाँ ,  
 वह मुक्ताधिक शल्ल शुक्तियाँ ,  
 सब छूट गईं वही वही ,  
 सखिया भी ससुराल जा रही ।

कमला - तट बाटिका बड़ी ,  
 जिसमे है सर, कूप, बावड़ी ।  
 मणि - मन्दिर मे महासती ,  
 गिरिजा हैमवती विराजती ।

करुणाकृति माँ विसूरती ,  
गिरिजा भी वन मूर्ति धूरती ।

सुनती कितने प्रसंग मैं ,  
कर देती कुछ रंग भंग मैं ।  
चुनती नर-वृत्त मोद से ,  
सुनती देव-कथा विनोद से ।  
/ शिवि की न दधीचि की व्यथा ,  
/ कहती हो किस शक्र की कथा ।  
यदि दानव एक भी मिला ,  
समझो तो सुर-मंत्र ही किला !  
अमरों पर देख टिप्पणी ,  
कहती 'नास्तिक' खीज माँ मणी ।  
हँस मैं कहती—प्रसाद दो !  
तज दूँ तो यह नास्ति-वाद दो !  
पितृ-पूजन आप ठानती ,  
सुर ही पूज्य तथापि मानतीं ।  
कहती तब माँ दया-भरी ,—  
'बह तेरे पितृ-देव हैं अरी ।



मुन मैं जति-देव-देविता ।  
 नर मेरी निर मा-पू-देविता ।  
 कानों नर मेरी समापना—  
 'मुन देव-देविता मेरी समापना ।'  
 मुन मेरी, नर मेरी, मुन-देविता मेरी,  
 निर मेरी, मा-पू-देविता मेरी,  
 मा-पू, मा-पू - नर-देविता,  
 मा-पू मुन-देविता मा-पू-देविता ।

मुन-देविता नर मेरी समापना,  
 नर मेरी मुन-देविता समापना ।  
 'मुन,—मा-पू-देविता मेरी समापना,  
 मा-पू देव-देविता मेरी समापना !'  
 निर मा-पू - नर-देविता मेरी,  
 मा-पू मेरी निर-देविता मा-पू-देविता ।  
 नर मेरी निर-मा-पू-देविता मेरी,  
 निर मेरी मा-पू-देविता मेरी !  
 मा-पू निर-मा-पू-देविता,  
 नर मा-पू-देविता मा-पू-देविता ।

जय हो ! भय भूल भूल के ,  
 कहती मैं तब ऊल ऊल के !  
 जब शुम्भ निशुम्भ - मर्दिनी  
 बनती काम्य - कला कपर्दिनी ,  
 करता तब चित्त बाल-सा ,  
 जन-घात्री-स्तन-पान-लालसा !  
 हम भी सब क्षत्र - बालिका ,  
 बन जावें निज स्वर्ग - पालिका ।  
 पर अस्त्र कहाँ ? 'सभी कही—'  
 बढ जोजी कहने लगी—'यही !'  
 दल विस्मय से अवाक था ,  
 उनके हाथ उठा पिनाक था !  
 उस काल गिरा, उमा, रमा ,  
 उनमे दीख पड़ी सभी समा !!

सबने कल नाद - सा किया—  
 'कलिया ने नभ को उठा लिया !  
 बन ने मन तोल - माप की ,  
 यह बेटो निज धन्य बाप की !'

जन ने मन हृदय में दिया ,  
 मद् ओओवन ने दिया दिया ।  
 वह है भूत-नाश-वर्धित  
 जितो, मद्गद ही मदे दिया—  
 'जिते मायन-मद भीन ने ,  
 भूत है मन्त्र-सामन्त्र-मै ;  
 पर ज्ञान मुझे मद्गदमुखा  
 मद् माया यत भीदि हो मुखा ।'  
 मृग या भयभूत भाव की ,  
 मद्गद, मोघ वद-गु भाव की—  
 'मद्गदविनि मी, निवादि ,  
 मर—देवे मर—मर सादि !'  
 जनमे मद् गाव में वद—  
 'मद्गद ही मुम मोषवदी छाव !  
 मर-देव मद्गद है, मद्गद ,  
 मद्गदो ये मदिदी दि-ये मद्गद ।'

मदिने, मरदेव भी मदिने ,  
 मद्गद मरे मिय मद्य ये मदिने ।

वह दयामल-गीर गात्र थे ,  
 उनके-से कह, कौन पात्र थे ?  
 वह पुण्यकृती अपाप थे ,  
 पहले ही अवतीर्ण आप थे ।  
 दुगुने वह धीर-वीर थे ,  
 सुकृती ये कल-नीर-तीर थे ।  
 प्रभु दायक जो उदार थे ,  
 जननी तीन, सुपुत्र चार थे ।  
 कुल - पादप - पुण्य - मूलता ,  
 फल चारो फल वयो न फूलता ?

वह बाल्य कथा विनोदिनी ,  
 कहना तू कल-मूर्ति मोदिनी ।  
 सुनना भर शक्य था मुझे ,  
 जिसके दर्शन हो चुके तुझे ।  
 समझी अब मैं प्रवाहिणी ,  
 यह तू वयो बहु ग्राह-ग्राहिणी ।  
 निज वीर-विनोद-पक्ष के ,  
 वह हैं साधन लोल-लक्ष के ।

करती व्रत वे नये नये ,  
 कृश होती पर मग्न थी अये ।  
 वह अचल धूल पोछते ,  
 कर कधी घर बाल पोछते ।  
 हँस बालक दूर भागते ,  
 कुल के दीप अखण्ड जागते ।

तटनी, उन तात की कथा ,  
 तनयो-सा प्रिय प्राण भी न था ।  
 वस एक नभोमयक था ,  
 रखता चार उदार अक था ।  
 गुह और गणेश ईश के ।  
 वस प्रद्युम्न प्रसिद्ध श्रीश के ,  
 पर कोशलराज के चुने ,  
 दुगुने थे यह और चौगुने  
 वर मोक्तिक - माल्य तोड़ते ,  
 उसको वे फिर छोड़ छोड़ते ।  
 कहते— हम चौक पूरते ।'  
 'लडकी हो ?'—हंस तात घूरते ।

सर, सर रह भाव-गद्गदा ,  
 रघुवशी वलि घर्म के सदा ।  
 कसती कटि थी कनिष्ठ माँ ,  
 असि देती मँझली घनिष्ठ माँ ।  
 कह—'क्यों न हमें किया प्रजा ?'  
 पहनाती वह ज्येष्ठ माँ सजा ।  
 प्रभु ने चलते हुए कहा—  
 'अवशान्ते, भय-सोच क्या रहा ,  
 भगिनी, जय-मूर्ति-सो भुकी ,  
 यह राखी जब बांध तू चुकी ?'

कृति में दृढ़, कोमलाकृति ,  
 मुनि के सग गये महाधृति ।  
 भय की परिकल्पना बड़ी ,  
 पथ में आकर ताड़का अड़ी ।  
 प्रभु ने वह लोक-भक्षिणी ,  
 अवला ही समझी अलक्षिणी ।  
 पर थी वह आततायिनी ,  
 हत होती फिर क्यों न डाइनी ।

सुख-शान्ति रहे स्वदेश की ,  
 यह सच्ची छवि क्षात्र वेद की ।  
 वृषि-गो-द्विज-धर्म-वृद्धि हो ,  
 रिपु से रक्षित राज्य-वृद्धि हो ।  
 प्रभु ने भय-मूर्ति विद्ध की ,  
 मुनि ने भी मख-पूर्ति सिद्ध की ।  
 बहु राक्षस विघ्न से बने ,  
 पर दो ने सब सामने हने ।  
 विकराल बली सुबाहु था ,  
 विघु धे ये न, सुबाहु राहु था ।  
उसके भुज बेलु - से पड़े ,  
 गवि से भी प्रभु किन्तु थे बड़े ।  
 दल खेत रहा सभी वहाँ ,  
 खल मारीच उड़ा, गया कहाँ ?  
 मुनि हर्षित आज थे बड़े ,  
 पर क्या दें, इस मोच में पड़े ।  
 प्रभु का उपहार धर्म था ,  
 ध्रुव निष्काम स्वकीय कर्म था ।  
 मुनि का जय-पूर्ण घोष था ,  
 पर यो ही उनको न तोष था ।

सरयू, वर-देव थे यहो ,  
 वरदर्शी पितृ-वाक्य था सही—  
 'वर-देव अवश्य हैं—बढ़ें ,  
 अपनी ये कलियाँ जिन्हे चढ़ें ।'  
 सच को किस ओर आँच है ,  
 पर आवश्यक एक जाँच है ।  
 सुपरीक्षक सिद्ध आप था ,  
 वर का, जो वह शम्भु चाप था ।  
 स्थिर था यह तात ने किया—  
 'जिसने खीच इसे चढा दिया ।  
 पण-रूप, वही रणाग्रणी ,  
 वर लेगा यह मैथिली-मणि ।'

अब भूपति-वृन्द आ चला ,  
 विचली-सी मिथिला महाचला ।  
 जन - सिन्धु - तरंग - वेष्टिता ,  
 नगरी थी अब द्वीप-चेष्टिता ।  
 'भव-को यह भेंट भुक्ति लो ,  
 वह सीता, वह मुक्ति-भुक्ति दो ।'



फिरता मन था उड़ा उड़ा ,  
 मिथिला में भव-संघ था जुड़ा ।  
 कहता भव - चाप—'घाइए ,  
 मुक्त-सा निश्चल चित्त लाइए ।  
 तन का धल ही न तोलिए ,  
 मन की भी वह गाँठ खोलिए !'  
 वह रौद्र कटाक्ष - रूप था ,  
 सहता जो, वह कौन भूप था ?  
 भट रावण - दारण - से कटे ,—  
 जिनसे वे सुर - शक्र भी हटे !

हँसती हम, खेल लेखती ,  
 चढ़ अट्टों पर दृश्य देखती ।  
 पर हा ! वह मातृ-चित्त था ,  
 चल जो सन्तति के निमित्त था ।  
 सबको सब माँ सहेजती ,  
 हमको पूजन - हेतु भेजती ।  
 हमने कृतकृत्य हो लिये,—  
 वरदा ने वर भी बुला दिये !

ऋषि के मख - विघ्न टालके ,  
 निज वीर - व्रत पूर्ण पालके ,  
 मुनि की गृहिणी उवारके ,  
 वर आये नर - रूप धार के !

सरयू, वह फुल्ल वाटिका  
 बन बैठी वर - वीथि - नाटिका !  
 युग श्यामल - गौर मूर्तियाँ ,  
 हम दो की शत पुण्य-मूर्तियाँ !  
 सजते जब भूष न्यून थे ,  
 चुनते वे मुनि - हेतु सून थे ।  
 निज भूषण आप भानु है ,  
 रखता द्वेषण क्या कृशानु है ?  
 दृग दर्शन - हेतु क्या बढे ,  
 उन पैरो पर फूल - से चढे !  
 उनकी मुसकान देख ली ,  
 अपनी स्वीकृति आप लेख ली ।  
 'नभ नील अनन्त है अहा !'  
 घर जीजीधन ने मुझे कहा—

'अपनी जगती अधीन - सी ,  
 चरणों में चुपचाप लीन-सी !'  
 निक्ली उनकी उसाँस - सी ,  
 उसने दी यह एक आँस - सी—  
 'उनकी पद-धूल जो धरे ,  
 न अहत्या-अपकीर्ति से डरे !'  
 मुझको कुछ आत्म-गर्व था ,  
 क्षण में ही अब सर्व खर्व था ।  
 नत थो यह देह सर्वथा ,  
 सरयू, सिन्धु - समीप तू यथा ।  
 भयकेतन - केतु नम्र थे ,  
 ( तब ये लोचन मीनकम्र थे ! )  
 विजयी वर थे विनीत क्या ,  
 हम हारी, पर तुच्छ जीत क्या ?  
 वर आकर धीर - वीर - से ,  
 सहसा लौट गये गभीर - से ।  
 सुमनस्फुट हाथ में गये ,  
 मन पैरो पड साथ में गये ।  
 कुछ मर्मर - पूर्ण मर्म था ,  
 धर्म क्या था, परहाय ! धर्म था ।

यह कण्टक-पूर्ण चर्म था ,  
 गद-सा गद्गद प्रेम धर्म था ।  
 वह अलहड बाल्य क्या हुआ ?  
 नयनो मे कुछ नीर-सा चुआ ।  
 इस यौवन ने मुझे धरा ,  
 नव सकोच भरा, भरा, भरा ।  
 दिसलाकर दृश्य ही नया  
 यह ससार समक्ष आगया ।  
 करता रव दूर द्रोण था ,  
 मुझको इच्छिन एक कोण था ।  
 तिरछी यह दृष्टि हो उठी ,  
 ( तकती-सी सब सृष्टि हो उठी ।  
 मन मोहित-सा विमूढ था ,  
 प्रकटा कौन रहस्य गूढ था ?

घर था भरपूर पूर्व-सा ,  
 पर विश्राम सुदूर पूर्व-सा ।  
 मन मे कुछ क्या अभाव था ?  
 तन मे भी अब कौन हाव था ?

मा देह - सत्ता दुर्द्ध - मुद्ध ,  
 निशि पार्द्ध, पर भीरु का दुर्द्ध ?  
 त्रिपदा मा मुनि भोग मा ,  
 यह मा जो पत्ता त्रिगोप मा !  
 घुसनात मत्तात मोलने ,  
 छाने छाव नरात मोलने ,  
 निशि का पति देगने मगो ,  
 मय मोले, पर में जगो-जगो !  
 जय थे मय जागने मने ,  
 मय गतिवत भागने मने ,  
 निशि हाट उतारने मगो ,  
 मय में मयत निहारने मगो !  
 फट पो उर भी रिखा रही ,  
 कनि, सो फूट, दही गिगा रही !  
 बट दीवत को गिगा रही ,  
 घनि सेगा गतिगो गिगा रही !  
 गतिरावनि फूटने मगो ,  
 घनि - घानी उट दूटने मगो !  
 नभ की मनि छूटने मगो ,  
 हरियाली द्विम छूटने मगो ।

बिहगावलि बोलने लगी ,  
 यह प्राची पट खोलने लगी ,  
 अटवी हिल डोलने लगी ,  
 सरसो सौरभ घोलने लगी ।  
 मिलती यह थी स्वकोरु से ,  
 हत कोकी बच दु ख शोक से ।  
 वह सूर्यमुखी प्रसन्न थी ,  
 फिर भी चैनन सृष्टि सन्न थी ।  
 अविलोडित था जमा दही ,  
 तिमिराम्भोधि-समुदघृता मही ,  
 मृदु वायु विहारने लगी ,  
 तब मैं स्वप्न निहारने लगी ।

वह स्वप्न कि सत्य, क्या कहूँ ?  
 सरयू, तू वह श्रीर मैं बहूँ ।  
 प्रकटी प्रिय - मूर्ति मोदिता ,  
 कब सोई यह दृष्टि रोदिता !  
 यह मानस लास्य - पूर्ण था ,  
 वह पद्यानन हास्य - पूर्ण था ,

भरगा उड़ घनु - धुगं पा ,  
 मगिगे, मग्मुग मगं-धुगं पा ।  
 धय भी पा देह गो मना ,  
 नितनी नग्दरिगा-नगा-नगा !  
 वंती बग धदि - देन ये ,  
 ना भी हो मरगे न मेव से ।  
 धनि धेतन - धुनि निद्रिगे !  
 हंग योसे दिन द्रेम मे—'प्रिगे !'  
प्रिगे रोम म्यान्ग म्यान्ग  
 यजगा जो गुन गिदि-मन्य पा ।

तटिगी, यत तुन्द विवरी ,  
 गुन से वपों न, यता यती मगी ?  
 यह जीवन का निमेष पा ,  
 पर पागे यह वान शेष पा !

वितनी उग द्रुग में गुभा ,  
 मग्गू, मैं बहगी नहों गुभा ।  
 यह रूप - पयोपि पी मगी ,  
 तय तो मैं यह पाज जी मगी ।

मुझको प्रिय स्वप्न मे मिले ,  
 पर बोले वह—'हाय ऊर्मिले ।  
 वर हैं, पर वीर हैं वरो ,  
 घर लो धीरज तो मुझे धरो ।'  
 मुखरा मति मौन ही रही ,  
 पर थी सम्मति सो हुई वही ।  
 'अवला तुम ।'—हाय रे छली ।  
 वरती हैं तब तो महाबली ।  
 'वह मानस क्या गभीर है ?  
 रखता मज्जन-योग्य नीर है ?'  
 लघु है यह, आप थाह लो ,  
 पर जो है, अब तो निवाह लो ।  
 'तब क्या उपहार दूँ, कहो ?  
 धन क्या, मैं मन बार दूँ अहो ।  
 कर मे शर है कि शूल है ।'  
 निरखूं तो वह एक फूल है ।  
 प्रिय ने कर जो बढा दिया ,  
 घर मेंने सिर से चढा लिया ।  
 पलकें ढल हाय ! जो खुली ,  
 हँसती थी किरणें मिलो जुली ।



गहगा यह क्या हुआ धरे ,  
 उपरे बरतें फिर नेत्र में धरे ?  
 बस था यह स्वप्न ही गहरी ,  
 मय निष्पत्ता, ध्रुव-मन्दरावली !

जिम्मे मम सागना गहरी ,  
 का पान्थि-मृग मुनिका गहरी ।  
 यह भी उम्र नाम थी गहरी ,  
 मुन्नी जो घर मम में बनी ।  
 मय धोर विनेत्र भूम थी ,  
 दम जो मे बस एक धूम थी ।  
 जिम्मे यह सागराग थी ,  
 बरती दा ! यह मूर्ति-नाम थी !

निज गोप-मगध ही भनी ,  
 गिरा थी दीर्घ स्वयंवर-धनी ;—  
 जिम्मे धर ही बंधू धरे ,  
 यदि निर्धारित धोरता धरे ।

दृग-दीपक थे बुझे बुझे,  
 पहला सोच हुआ यही मुझे—  
 प्रभु चाप न जो चढ़ा सके ?  
 उड़ता था मन, अग थे थके ।  
 तब मैं अति आर्त हो उठी,  
 घरजोजी-मणिको भिगो उठी ।  
 हँस वे कहने लगी—‘अरी,  
 यह तू क्यों इतना डरी डगी ?  
 चढ़ता उनसे न चाप जो,  
 वह होते न समर्थ आप जो,  
 उठती यह भोह भी भला,  
 उनके ऊपर तो अचचला ?  
 दृढ प्रत्यय के बिना कही,  
 यह आत्मार्पण दीखता नहीं ।  
 मधु को निज पत्र क्यों, बता,  
 करती अर्पित पूर्व ही लता ?  
 बनती जब आप अर्पिता,  
 वह वर्त्ती वह स्नेह तर्पिता,—  
 उसको भर अक भेटता,  
 तब पीछे तम दीप भेटता ।

नृप - नेत्र - मिलिन्द जो जुड़े ,  
 सजनी - चामर से परे उड़े !  
 बल - यौवन - रूप - वेश का ,  
 अपने सिष्ट-विशिष्ट देश का ,  
 दिखलाकर लोभ लुब्ध था ,  
 फिर भी राज-समाज क्षुब्ध था ।  
 नृप - सम्मुख नम्र नाक था ,  
 पर मध्यस्थ महापिनाक था ।  
 सिर मार मरे नहीं हटा ,  
 न रहो नाक, पिनाक था डटा ।  
 सबका बल व्यर्थ हो बहा ,  
 तब दुःखी-मम तात्त ने कहा—  
 'वस बाहुजता विलोम है ,  
 वसुधा वीर - विहीन दीन है !'  
 'कहता यह बात कौन है ?  
 सुनता सत्कुलजात कौन है ?'  
 गरजे प्रिय जो 'नहीं नहीं !'  
 सरयू, ये हत नेत्र थे वहीँ ।  
 शिखरस्थित सिंह - गर्जना—  
 वह मचोपरि कान्त - तर्जना ।

अग्नोदय देग आग-ना  
 न उठा कौन मनुष्य जाग-ना ?  
 'धव भी रवि का शिवान है ,  
 धव भी मानर रत्न-दान है ।  
 धव भी रवि-वश शेष है ,  
 वसुधा है , बृहदग्न शेष है ।  
 धव भी जल-पूरा जहनुजा ,  
 धव भी राघव की महा भुजा ।  
 नन वाम्बूक इसु सण्ड हैं ,  
 मम शुण्डोर्म वागुदण्ड हैं ।  
 यह बात महापमान की ,  
 मम धार्या वह विन्तु जानवी ।  
 उठ धार्य , स्वरायं कीजिये ,  
 धन को रोहित-शोषि दीजिये ।'

मुनते सब लोग सन्न थे ,  
 नत भी तात बड़े प्रसन्न थे ।  
 यह भी सुध थी बिसे नदि,—  
 प्रभु धन्या न चढा सगे यदि ?

रखता नृप कौन दर्प था ?  
 मणि जीजी, शिव-चाप सर्प था ।  
 कुछ गारुड-मन्त्र-सा किया ,  
 प्रभु ने जा उसको उठा लिया ।  
 रस का परिपाक हो गया ,  
 चढता चाप तढाक हो गया !  
 प्रभु - साम्य समुद्र - सग था ,—  
 धनुस्त्रोल उठा कि भंग था !

सब हर्ष निमग्न हो गये ,  
 क्षितिपो के मन भग्न हो गये ।  
 कुछ बोल उठे यही वहाँ—  
 'बल ही था यह, वीरता कहाँ ?'  
 किसका यह लोभ रो उठा ?  
 मुभक्तो भी गुन क्षोभ हो उठा ।  
 भृकुटी जब ली चढे यहाँ ,  
 प्रिय ने चाप चढा लिया वहाँ ।  
 निकला रव रोर चीरता—  
 'किसमें है वह वीर्य - वीरता ?

जिसको उसका प्रमाद है ,  
उसके ऊपर वाम पाद है ।'

ध्वनि मडप - मध्य छा गई ,  
तब लौ भागंव-भूति आ गई ।  
प्रभु से भव - चाप भग था ,  
प्रिय से भागंव का प्रसंग था ।  
मुनि की निज गर्व - गर्जना ,  
प्रिय की तत्क्षण योग्य दर्जना ।  
प्रभु की वह सौन्द्य दर्जना ,  
मनकी शो न न न दर्जना ।

प्रभु को निज चाप दे गये ,  
 मुनिता ही मुनि आप ले गये ।  
 सुरलोक जहाँ नगण्य है ,  
 वह प्रज्या-व्रत धन्य धन्य है ।

सरयू, जय-दुन्दभी वजी ,  
 वह वारात बड़ी यहाँ सजी ।  
 भगिनी युग और थी वहाँ ,  
 वर भ्राता द्वय और थे यहाँ ।  
 कर-पीडन प्रेम-याग था ,  
 कह, स्वीकार कहै कि त्याग था ?  
 वह मोद विनोद-वाद था ,—  
 जिसमे मग्न स्वयं विषाद था ।  
 वह बन्धन - मुक्ति - मेल - सा ,  
 विधि का सत्य, परन्तु खेल-सा !  
 नर का अमरत्व तत्व था ,  
वह नारीकुल का महत्व था ,  
 बहु जाग्रत स्वप्न थे नये ,  
 दिन आये कब और वे गये ?

कब हा ! उस स्वप्न से जगी ,  
जब माँ से हम छूटने लगी ।

बिछुड़ा बिछुड़ा विषाद है ,  
तुझको तो स्ववियोग याद है ।  
जब तू इस आद्रं देह से ,  
पति के गेह चली स्वगेह से ।  
शतधा सविता हुए बिना ,  
सरिता, क्या द्रविता हुए बिना ,  
घर से चल तू सबो बत्ता ?  
कितनी हाय-पछाड, क्या पता !

‘मत रो’—बह आप रो उठी ,  
तुम क्यों माँ, यह धैर्य खो उठी ?  
‘यह मैं जननी प्रपीडिता ,  
पर तू है शिशु आप क्रीडिता !  
फिर क्यों शिशु को हटा रही ?  
तुम माँ की ममता घटा रही ।  
‘हटती यह आप मैं यहाँ ,  
तुम हो और सुखी सदा वहाँ ।



सुन, मैं यह एक दोन माँ ,  
 तुमको हैं अब प्राप्त तीन माँ ।  
 पति का सुख मुख्य मानियो ।  
 'सुख को भी सहनीय जानियो ।'  
 पिछला उपदेश तात का ,  
 विसरा-सा वह वेश तात का ,  
 अब भी यह याद आ रहा ,  
 विसरा-सा सब भान जा रहा ।  
 उनको कब लोभ मोह था ,  
 पर भाँ भाँ करता विछोह था ।  
 हम तो उस गोद में रही ,  
 उनकी ब्रह्म-दया कहाँ नही ?  
 हम पैर पलोटने लगी—  
 पड पैरो पर लोटने लगी ।  
 'फिर आकर अक भेटियो ,  
 थल भूली तुम आज वेटियो ।'

उस आँगन में खड़ी खड़ी ,  
 भर आँखें अपनी बड़ी बड़ी ,

अब भी सुध माँ विमारती ,  
 सहसा चौंके हमें पुकारती ।  
 अब आँगन भाँय भाँय है ,  
 करता माखन साँय साँय है ।  
 झड़ते सब फूल फूटके ,  
 पड़ते हैं वस अश्रु टूटके ।

प्रिय आप न जो उबार लें ,  
 हमको मातृवियोग मार लें ।  
 तटिनी, यह ज्ञात है तुम्हें ,  
 प्रिय ने दुःख भुला दिया मुझे ।  
 सरयू, वह सौख्य क्या कहूँ ?  
 अब तो मैं यह दुःख ही सहूँ ।  
 उतना रस भोग जो जिये ,  
 वह दुर्देव दृगम्बु भी पिये !  
 वह है यह मैं अभागिनी ,  
 अपना-सा धन आप त्यागिनी ।

{ विष-सा यह जो वियोग है ,  
 अपना ही सब कर्म-भोग है । }

विनती यह हाथ जोड़के—  
 वह, मैंने प्रिय सग छोड़के  
 कुल के प्रतिकूल तो कही,  
 अपना धर्म घटा दिया नहीं ?  
 सुबधू इस गण्य गेह की,  
 दुहिता होकर मैं विदेह की,  
 प्रिय को, घर देह-भोग से,  
 करतो वचित क्या सुयोग से ?  
 रहते घर नाथ, तो निरा  
 - वहती स्त्रैण उन्हे यही गिरा ।  
 जिसमे पुरुषार्थ-गर्व था,  
 मुझको तो यह एक पर्व था ।  
 करतो कल नीर-नाद तू,  
 सुख पाती अथवा विषाद तू ?  
 अनुमोदन या विरोध है ?  
 मुझको क्या यह आज बोध है ?  
 मन के प्रतिकूल तो कही  
 करते लोग कुभावना नहीं ।  
 तुझको कल-वान्त-नादिनी,  
 गिनती है अनुकूल-वादिनी ।

जितना यह दुःख है कड़ा ,  
उससे प्रत्यय और भी बड़ा ।  
यदि लीक धरे न मैं रही ,  
मुझको लीक धरे, यही मही !  
सुख शान्ति नहीं, न हो यहाँ ,  
तुम सन्तोष, बने रहो यहाँ ।  
सुख-सा यह दुःख भी मिले ,  
मुझको शान्ति अशान्ति मे मिले !

तब जा सुख-नाट्य-नर्तिनी ,  
वन तू सागर-पार्श्व-वर्तिनी ।  
पथ देख रही तरंगिणी ,  
त्रिपथा-सी वह सग-रगिणी ।  
यह ओघ अमोघ जायगा ,  
पथ तो पान्थ स्वयं बनायगा ।  
चल चित्त तुझे चला रहा ,  
जलता स्नेह मुझे जला रहा ।  
गति जीवन में मिली तुझे ,  
सरिते, बन्धन की व्यथा मुझे ।

तन मे न सहो, धमगिनो,  
मन से है हम विन्दु सगिना ।  
 वह, क्या उपहार दू तुझे ?  
 धलक ही यह दोषतो मुझे ।  
 लट ले यह एक प्रेम मे,  
 रख गागो, रह नि-य दोम से ।  
 सजनी, यह व्ययं बोधती,  
 भिष से मैं कब बाल नोचनी ?  
 यह बन्धन एक प्रीति का,  
 इसमे क्या कुछ काम भोति का ?  
 अयि, शुक्तिगयी,, सँभाल तू,  
 रख चाती, यह अश्रु पाल तू ।  
 यदि मैं न रहूँ, नहीं सहो,  
 प्रिय की भेंट बनें यहाँ यही !  
 अथवा यह क्षार नीर है,  
 प्रिय क्षाराव्य तुझे गभीर है ।  
 तब ले दृग-विन्दु क्षुद्र ये,  
 बढ हो जायँ स्वयं समुद्र ये ।  
 घन पान करे कभी इन्हें,  
 रुचता है परमार्थ ही जि-हे ।

यह भी इस भाँति धन्य हो ,  
जगती के उपकार - जन्य हो ।  
प्रिय के पद धूल से भरे ,  
सपरागाम्बुजता जहाँ धरे ,  
यह भी उस धूल में गिरे ,  
इनके भी दिन यो फिरें फिरें ।  
— वह बूल स्वयं समेट लूँ ,  
तुम्हको तो निज 'फूल' भेट दूँ ।  
यश गा निज वीर वृन्द का ,  
ध्रुव-से धीर गभीर वृन्द का ।”

टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में ,  
झड झड पडते थे तुच्छ तारे दिशा में ।  
कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती ,  
सन सन करके थी शून्य की साँस आती ।

| सखी ने अक में खीजा, दु खिनी पड सो रहें  
स्वप्न में हँसती थी हा । सखी थी देख रो रहें

## एकादश सर्ग

जयति कविध्वज के वृपालु ऋषि ,  
वेद - पुराण - विधाता व्यास ,  
जिनके धमर गिराश्रित है सब  
धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास !

वरसों बीत गई, पर अथ भी  
है साकेत पुरी मे रात-  
तदपि रात चाहे जितनी हो ,  
उसके पीछे एक प्रभात

ग्रास हुआ आकाश, भूमि क्या ,  
 बचा कौन अंधियारे से ?  
 फूट उसीके तनु से निकले  
 तारे कच्चे पारे - से ।  
 विकच व्योम-विटपी को मानो  
 मृदुल बयार हिलाती है ,  
 अंचल भर भरकर मुक्ता-फल  
 खाती और खिलाती है !  
 सौघ-पार्श्व में पराङ्कुटी है ,  
 उसमें मन्दिर सोने का ,  
 जिसमें मणिमय पादपीठ है ,  
 जैसा हुआ न होने का ।  
 केवल पादपीठ, उसपर हैं  
 पूजित युगल पादुकाएँ ,  
 स्वयं प्रकाशित रत्न-दीप हैं  
 दोनों के दायें-बायें ।  
उटज-अजिर में पूज्य पुजारी  
उदासीन - सा बैठा है ,  
 आप देव-विग्रह मन्दिर से  
 निकल लीन-सा बैठा है ।



मिले भरत मे राम हमें तो ,  
 मिलें भरत को राम कभी ,  
 वही रूप है, वही रंग है ,  
 वही जटाएँ, वही सभी !  
 बायी ओर धनुष को शोभा ,  
 दायी ओर निपग - छटा ,  
 वाम पाणि मे प्रत्यंचा है ,  
 पर दक्षिण में एक जटा !  
 "आठ मास चातक जीता है  
 अपने धन का ध्यान किये ;  
 आशा कर निज धनश्याम को  
 हमने बरसों बिता दिये !"

सहसा शब्द हुआ कुछ बाहर ,  
 किन्तु न टूटा उनका ध्यान ,  
कब आ पहुँची वहाँ माण्डवी ,  
 हुआ न उनको इसका ज्ञान ।

चार चूड़ियाँ थी हाथों में ,  
 माथे पर सिन्दूरो बिन्दु ,  
 पीताम्बर पहने थी सुमुखी ,  
 कहाँ असित नभ का वह इन्दु ?  
 फिर भी एक विषाद वदन के  
 तपस्तेज में पैठा था ,  
 मानो लोह-तन्तु मोती को  
 वेध उसीमें बँठा था ।  
 वह सोने का थाल लिये थी ,  
 उसपर पत्तल छाई थी ,  
 अपने प्रभु के लिए पुजारिन  
फलाहार मज लाई थी ।  
 तनिक ठिठक, कुछ मुडकर दायें ,  
 देख अजिर में उनकी ओर ,  
 शीश झुकाकर चली गई वह  
 मन्दिर में निज हृदय हिलोर ।  
 हाथ बटाकर रक्खा उसने  
 पादपीठ के सम्मुख थाल ,  
 टेका फिर घुटनों के बल हो  
 द्वार-देहली पर निज भाल ।

टपक पड़ी उसकी आँखों से  
 बड़ी बड़ी बूंदें दो चार,  
 दूनी दमक उठी रत्नों की  
 किरणें उनमें डुबको मार !  
यही नित्य का क्रम था उसका,  
राजभवन से आती थी,  
स्वश्रू - शुश्रूषिणी अन्त में  
पति - दर्शन कर जाती थी ।

उठ धीरे, प्रिय-निकट पहुँचकर,  
 उसने उन्हें प्रणाम किया,  
 चौंक उन्होंने, संभल 'स्वस्ति' कह,  
 उसे उचित सम्मान दिया ।  
 "जटा और प्रत्यचा को उस  
 तुलना का फल क्या निकला?"  
हंसने की चेष्टा करके भी  
हा ! रो पड़ी बधू विकला ।

“यह विषाद भी प्रिये, अन्त मे  
स्मृति - विनोद वन जावेगा ,  
दूर नहीं अब अपना दिन भी  
आने को है, आवेगा ।”

“स्वामी, तदपि आज हम सबके  
मन क्यो रो रो उठते हैं,  
किसी एक अव्यक्त आर्त्ति से  
आतुर हो हो उठते हैं ।”

“प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह ,  
सदा शकिनी आशा है,  
होकर भी बहु चित्र - अकिनी  
आप रकिनी आशा है ।  
विस्मय है, इतनी लम्बी भी  
अवधि बीतने पर आई,  
खड़ा न हो फिर नया विघ्न कुछ ,  
स्वयं सभय चिन्ता छाई ।  
सुनो, नित्य जन - मगस्कल्पना  
नया निकेत बनाती है,  
किन्तु चंचला उसमे सुख से  
पल भर बैठ न पाती है ।

सत्य सदा शिव होने पर भी,  
 विरूपाक्ष भी होता है,  
 और कल्पना का मन केवल  
 सुन्दरायं हो जाता है।  
 तो भी अपने प्रभु के ऊपर  
 है मुझको पूरा विश्वास,  
 आर्य कही हों, किन्तु आर्य के  
 दिये वचन हैं मेरे पास।  
 रोक सकेगा कौन भरत को  
 अपने प्रभु को पाने से?  
 टोक सकेगा रामचन्द्र को  
 कौन अयोध्या आने से?"

"नाथ, यही कहकर माँगी को  
 किसी भाँति कुछ खिला सकी,  
 पर अमिता वहन को यह में  
 आज न जल भी पिला सकी।  
 'कहाँ और कैसे होंगे वे?'—  
 कह कह माँएँ रोती हैं,  
 'कटि उन्हें कसकते होंगे'—  
 रह रह धीरज खोती है!

किन्तु वहन के बहने वाले  
 आँसू भी सूखे हैं आज ,  
 बरुनी के वरुणालय भी वे  
 अलको से, हसते हैं आज !  
 उनके मुहों को ओर देखकर  
आग्रह आप ठिठकता है ,  
 कहना क्या, कुछ मुनन में भी  
 हाय ! आज वह थकता है ।  
 दीन-भाव ने कहा उन्होंने—  
 'वहन, एक दिन बहुत नही ,  
 बरसों निराहार रहकर ये  
 आँखें क्या मर गई कहीं ?'  
 विवश लौट आईं रोककर मैं ,  
 लाई है नवेद्य यहाँ ,  
'घाता हूँ मैं'—कहकर देवर  
गये उन्हींके पास वहाँ ।'  
 सनिःश्वाम तब कहा भरत ने—  
 "तो फिर आज रहे उपवास ।"  
 "पर प्रसाद प्रभु का ?" यह कहकर  
 हुई माण्डवी अधिक उदास ।

“सबके साथ उसे लूंगा मैं,  
 बीते,—बीत रही है रात,  
 हाय ! एक मेरे पीछे हो  
 ८) हुआ यहाँ इतना उत्पात !  
 एक न मैं होता तो भय की  
 क्या असरयता घट जाती ?  
 छाती नहीं फटी यदि मेरी,  
 तो धरती ही फट जाती !”  
 “हाय ! नाथ, धरती फट जाती,  
 हम तुम कहीं समा जाते,  
 तो हम दोनों किसी मूल में  
 रहकर कितना रस पाते ।  
 न तो देखता कोई हमको,  
 न वह कभी ईर्ष्या करता,  
 न हम देखते आत्त किसीको,  
 न यह शोक आँसू भरता ।  
 स्वयं परस्पर भी न देखकर  
 करते हम वस अगस्पर्श,  
 तो भी निज दाम्पत्य-भाव का  
 उसे मानती मैं आदर्श ।

कौन जानता किम आकर मे  
 पड़े हृदय स्त्री दो रत्न !  
 फिर भी लोग किया करते हैं  
 उनकी आशा पर ही यत्न ।  
 ऐसे ही अगणित यत्नों से  
 तुम्हें जगत ने पाया है ,  
 उसपर तुम्हें न हो, पर उसको  
 तुमपर भमता - माया है ।  
 नाथ, न तुम होते तो यह व्रत  
 कौन निभाता, तुम्हीं कहो ?  
 उसे राज्य से भी महार्ह धन  
 देता आकर कौन अही !  
 मनुष्यत्व का सत्व-तत्त्व यों  
 किसने समझा - बूझा है ?  
 सुख को लात मारकर तुम-सा  
 कौन दुख से जूझा है ?  
 खेतों के निकेत बनते हैं  
 और निकेतों के फिर खेत ,  
 वे प्रासाद रहें न रहें, पर ,  
 ' अमर तुम्हारा यह साकेत ।



मेरे नाथ, जहाँ तुम होते  
 दासी वही सुखो होती,  
 किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना  
 यहाँ निराश्रित हो रोनी।  
 रह जाता नरलोक अबुध ही  
 ऐसे उन्नत भावों से,  
 घर घर स्वर्ग उतर सकता है  
 प्रिय, जिनके प्रस्तावों से।  
 जीवन में सुख-दुःख निरन्तर  
 आते जाते रहते हैं,  
 सुख तो सभी भोग लेते हैं,  
 दुःख धीरे ही सहते हैं।  
 ✓ मनुज दुग्ध से, दनुज खिर से,  
 अमर सुधा से जीते हैं,  
 किन्तु हलाहल शव-सागर का  
 शिव-शकर ही पीते हैं।  
 धन्य हुए हम सब स्वधर्म की  
 जिस इस नई प्रतिष्ठा से,  
 समुत्तीर्ण होंगे कितने कुल  
 . . इसी अनुल की निष्ठा से !

हमें ऐतिहासिक घटनाएँ  
 जो शिक्षा दे जाती हैं,  
 स्वयं परीक्षा लेने उमारी  
 लौट लौटकर आती हैं।  
 अब के दिन के लिए खेद यह,  
 जब यह दुख भी चला चला ?  
 सच कहती हूँ, यह प्रसंग भी  
 मुझको जाते हुए खला !”  
 “प्रिये, सभी सह सकता हूँ मैं,  
 पर असह्य तुम सबका ताप।”  
 “किन्तु नाथ, हम सबने इसको  
 लिया नहीं क्या अपने आप ?  
 भूरि-भाग्य ने एक भूल की,  
 सबने उसे सँभाला है,  
 हमें जलाती, पर प्रकाश भी  
 फैलाती यह ज्वाला है।  
 कितने कृती हुए, पर किसने  
 इतना गौरव पाया है ?  
 मैं तो कहती हूँ, सदैव ही  
 यहाँ दुःख यह लाया है !

१था - भरी बातों में ही तो  
 रहता है कुछ गार भरा ,  
 प में तपकर ही वर्षा में  
होती है उर्वरा धरा ।  
 १, देवर आ गये, उन्हीके  
 घोड़े की ये टापें हैं ,  
 सुदृढ मार्ग पर भी द्रुतलय में  
 यथा मुरज की थापें हैं ।  
 राजनीति बाधक न बने तो  
 तनिका और ठहर्हैं इस ठौर ?"  
 "सो कुछ नहीं, किन्तु भृत्यों को  
 प्रिये, कष्ट ही होगा और ।"  
 "उन्हें हमारे सुख से वढकर  
 नाथ, नहीं कोई सन्तोष ,  
 सदा हमारे दुःखों पर जो  
 देते है स्वदैव को दोष ।"

आकर—“लघु कुमार आते हैं”—

बोली नत हो प्रतिहारी ,  
“आवें” कहा भरत ने, तत्क्षण  
आये वे धन्वाधारी ।

वृश होकर भी अग वीर के  
सुगठित क्षाण - चढे - से थे ,  
सरल वदन के विनय - तेज युग  
मितकर अधिक ँवढे - से थे ।

दोनो ओर दुक्कल फहरता ,  
निकले थे मानो दो पक्ष ,  
उडकर भी सुस्फूर्ति - भूर्ति वे  
ला सकते थे अपना लक्ष ।

आकर किया प्रणाम उन्होने ,  
दोनो ने आशीप दिया ,  
मुख का भाव देखकर उनका  
सुख पाया, सन्तोष किया ।

“कोई तापस, कोई त्यागी ,  
कोई आज विरागी है ,  
घर सँभालने वाले मेरे  
देवर ही बडभागो हैं ।”

मुसकावर तोनो ने क्षण भर  
 पाया वर विनोद-विश्राम,  
 अनुभव करता था अपने मे  
 चिनकूट का नन्दिग्राम ।

बोले तब शत्रुघ्न भरत से—  
 “आर्य, कुशलता है पुर मे,  
 प्रभु की स्वागत-सज्जा की ही  
 उत्सुकता सबके उर मे ।  
 अपने अतुलित जनपद को जो  
 आकृति मात्र रही थी शेष,  
 नव्य-भव्य वर्णों का उसमे  
 होता है अब पुनरुन्मेष ।  
 वह अनुभूत-विभाग आपा  
 बढ़ता है विभूति पाकर,  
 लिखते है लोगो के अनुभव  
 लेखक जहाँ तहाँ जाकर ।

करते हैं ज्ञानी - विज्ञानी  
 नित्य नये सत्थो का शोध ,  
 और सर्वसाधारण उनसे ,  
 बढा रहे हैं निज निज बोध ।  
 नूतन वृत्तो मे बवि-बोविद  
 नये गीत रच लाते हैं ,  
 नव रागो मे, नव तालो मे ,  
 गायक उन्हे जमाते हैं ।  
 नये नये साजो बाजो की  
 शिल्पकार करते हैं सृष्टि ,  
 गूढ रहस्यो पर ही प्रतिभा  
 डाल रही है अपनी दृष्टि ।  
 नई नई नाटक - सजाएँ  
 सूत्रधार करते हैं नित्य ,  
 और ऐन्द्रजालिक भी अपना  
 भरते हैं अद्भुत साहित्य ।  
 चित्रकार नव नव दृश्यो को  
 ऐसा अकित करते हैं ,  
 आनन्दित करने के पहले  
 जो कुछ शक्ति करते हैं ।”

कहा माण्डवी ने—‘उलूक भी  
 लगता है चित्रस्थ भला,  
 सुन्दर को सजीव करती है,  
 भीषण को निर्जीव कला।”  
 ‘वैद्य नवीन वनस्पतियों से  
 प्रस्तुत करते हैं नव योग,  
 जिनके गन्धस्पर्श मात्र से  
 मिटें गात्र के बहु विध रोग।  
 सौगन्धिक नव नव सुगन्धियाँ  
 प्रभु के लिए निकाल रहे,  
 माली नये नये पौधों को  
 उद्यानों में पाल रहे।  
 एक शाल में बहु विभिन्न दल  
 और विविध वर्धित फल फूल,  
 यथा विचित्र विश्व-विटपी में  
 अगणिन विटप, एक ही मूल।  
 तन्तुवाय बुन बना रहे हैं  
 नये नये बहु पट-परिधान,—  
 रखने में फूलों के दल-से,  
 फैलाने में गन्ध-समान।

स्वर्णकार कितने प्रकार से  
करते हैं मणि-कांचन-योग ,  
चमत्कार के ही प्रसार में  
लगे चाव से हैं सब लोग ।

गल गलकर ढल रही धातुएं  
पिघल महानल में जल ज्यों ,  
हुए टांकियों के कौशल से  
उपल सुकोमल उत्पल ज्यों !

फूल-मत्तियों से भूपित हैं  
फिर सजीव-से नोरस दार ,  
कारु-कुशलताएँ हैं अथवा  
उनकी पूर्वस्मृतियाँ चार !

बसुधा-विज्ञों ने कितनी ही  
खोजी नई नई खानें ,  
पढ़े घूलि में होंगे फिर भी  
कितने रत्न बिना जानें ।

श्रमो कृपक निज बीज-बुद्धि का  
रखते हैं जीवित इतिहास ,  
राज - घोष मे देखा मैंने

आज नया गोबश - विकास ।



विभु की बाट जोहते हैं सब  
 ले लेकर अपने उपहार,  
 दे देकर निज रचनाओं को  
 नव नव अलंकार - शृंगार ।  
 करा रहे ऊर्जस्वल बल से  
 नित्य नवल कोशल का मेल,  
 साथ रहे हैं सुभट विकट वहु  
 भय - विस्मय - साहस के खेल ।  
 करके नये नये शस्त्रों से  
 नये नये लक्षों को विद्ध,  
 विविध युद्ध-कौशल उपजाकर  
 करते हैं सैनिकजन सिद्ध ।”  
 कहा माण्डवी ने—“क्या यो ही  
 सच्चे कलह कही कम हैं ?  
 हा ! तब भी सन्तुष्ट न होकर  
 लगे कल्पना में हम हैं !”  
 “प्रिये, तुम्हारी सेवा का सुख  
 पाने को ही यह धर्म सर्व,  
 वीरों के अणु को बधुओं की  
 स्नेह - दृष्टि का ही चिर गर्व ।”

“हाय ! हमारे रोने का भी  
रखते हैं नर इतना मूल्य !”

“हां भद्रे, वे नहीं जानते ,  
हँसने का है कितना मूल्य !”

“किन्तु नाथ, मुझको लगती है  
कलहमूर्ति हो अपनी जाति ,  
आत्मीयो को भी आपस में  
हमी बनाती यहाँ अराति ।”

“आर्ये, तब क्या कहती हो तुम  
यहाँ न होती माताएँ ?

होता कुछ भी वहाँ कहीं से  
जहाँ न होती माताएँ ?

नही वही गृह-कलह प्रजा में ,  
हैं सन्तुष्ट तथा सब शान्त ,

उनके आगे सदा उपस्थित  
दिव्य राज-कुल का दृष्टान्त ।

अन्न-वृद्धि से तृप्त तथा बहु  
कला-सिद्धि से सहज प्रसन्न ,

अपना ग्राम ग्राम है मानो  
एक स्वतन्त्र देश सम्पन्न ।

“आर्य, तराई से आया है  
 एक श्वेत शोभन गज आज,  
 प्रभु के स्वागतार्थ उसके मित्र  
 समुपस्थित मानो गिरिराज !  
 सहज मुगति वह, किन्तु निपादो  
 उसे और शिक्षा देंगे,  
 प्रभु के आने तक वे उसको  
 उत्सव - योग्य बना लेंगे।”

“अनुज, सुनाते रहो सदा तुम  
 मुझको ऐसे ही संवाद,  
 सुनो, मिला है हमे और भी  
 हिमगिरि का कुछ नया प्रसाद ।  
 मानसरोवर से आये थे  
 सन्ध्या समय एक योगी,  
 मृत्युञ्जय की ही यह निश्चय  
 मुझपर कृपा हुई होगी ।  
 वे दे गये मुझे वह ओषधि  
 संजोवनो नाम जिसका,  
 क्षत-विक्षत जन को भी जीवन  
 देना सहज काम जिसका ।

किया उसे सस्थापित मैंने  
 चरण-पादुकाओं के पास ,  
 फैल रही यह सुरभि उसीकी ,  
 करती है वह विभा-विकास ।”

“आर्य सभी शुभ लक्षण हैं, पर  
 मन में खटक रहा है कुछ ,  
 निकल निकलकर भी काँटे-सा  
 उसमें अटक रहा है कुछ ।  
 लाकर दूर दूर से अपने  
 प्रभु के लिए भेंट सस्नेह ,  
 जल-थल से पुर के व्यवसायी  
 लौट रहे हैं निज निज गेह ।  
 आज एक ऐसे ही जन ने  
 मुझको यह सवाद दिया ,  
 सबके लिए अगम दक्षिण का  
 पथ प्रभु ने है सुगम किया ।

शान्त, सदय मुनियो को उद्धत  
 राक्षस वहाँ सताते थे,  
 धर्म - कर्म के घातक होकर  
 उनको खा तक जाते थे।  
 आर्यो, सिहर उठी तुम सुनकर  
 हुआ किन्तु अब उनका आण !  
 रहते है लेकर हा अथवा  
 देकर ही प्राणो को प्राण !  
 प्रभु के शरण हुए कुछ ऋषि-मुनि  
 कहकर कष्ट - कथा सारी,  
 सफल समझ अपना वन आना  
 द्रवित हुए वे भयहारी।  
 अत्रि और अनसूया ने तब  
 उनको आशीर्वाद दिया,  
 दिव्य वसन - भूषण आर्या को  
दे बेटी - सा विदा किया।  
 दण्डक वन में जाकर प्रभु ने  
 लिया धर्म - रक्षा का भार,  
 दिया अश्रु-जल हत मुनियो को  
 उनका अस्थि - समूह निहार।

बाधक हुआ विराध मार्ग मे ,  
 भूषटा मार्या पर पापण्ड ;  
 जीता हुआ गाड देना हो  
 समुचित था उस खल का दण्ड ।”

“हायअभागे ।” “सच्चमुच भाभी  
अच्छा हो ग्ररि का भी अन्त ,  
 किन्तु स्वय मांगा था उसने  
 मुक्ति हेतु यह दण्ड दुरन्त ।

✓ मिल शरभग, सुतीक्ष्ण आदि से  
 आर्य अगस्त्याश्रम आये ,  
 कौशिक-सम दिव्यास्त्र उन्होंने  
 उन मुनिवर से भी पाये ।  
 गोदावरी - तीर पर प्रभु ने  
 दण्डक वन मे वास किया ,  
 अपनी उच्च आर्य - सस्कृति ने  
 वहाँ अबाध विकास किया ।  
 राक्षसता उनको विलोचकर  
 थी लज्जा से लोहित - सी ,  
 शूर्पणखा रावण की भगिनी  
 पहुँची वहाँ विमोहित - सी ।”

हँसी माण्डवी—“प्रथम ताडका ,  
 फिर यह शूर्पणखा नारी ,  
 किसी विडालाक्षी की भी अब  
 आने वाली है वारो !”  
 “उनमें भी सुलोचनाएँ हैं  
 और प्रिये, हममें भी अन्ध !”  
 “नाथ, क्यों नहीं,—तभी न अब यह  
 जुड़ता है उनसे सम्बन्ध !—  
 हाँ देवर, फिर ?” “भाभी, आगे  
 हुआ सभी रस-भाव विवरण ,  
 आर्या को खाने आई वह—  
 । गई कटाकर नासा-कर्ण ।

;  
 इसके पीछे उस कुटीर पर  
 , “ घिरी युद्ध की घोर घटा ,  
 निशाचरों का गर्जन-तर्जन ,  
 , शस्त्रों की वह तड़िच्छटा ।

अभय आर्य ने इन्द्रचाप - सा  
 चाप चढाकर छोड़े बाण ,  
 रहा राक्षसों के शोणित की  
 वर्षा का फिर क्या परिमाण ?

- ✓ निज सस्कृति-समान आर्या की  
 अग्रज रक्षा करते थे ,  
 और प्रहरणों से प्रभुवर के  
 रण में रिपु - गण मगते थे ।  
 बहु सस्यक भी वरि जनो मे  
 उन गतियों से खेले वे ,  
 दीख पडे सबको असख्य - से  
 होकर आप अकेले वे !  
 दूषण को सह सबते कैसे  
 स्वयं सगुण धन्वाधारी ,  
 खर था खर, पर उनके शर थे  
 प्रखर पराक्रम - विस्तारी ।  
 व्रण - भूषण पाकर विजयश्री  
 उन विनीत मे व्यक्त हुई ,  
 निकल गये सारे कटक - से  
 व्यथा आप ही त्यक्त हुई ।



जय जयकार किया मुनियों ने ,  
 दस्युराज यों ध्वस्त हुआ ,  
आर्य - सभ्यता हुई प्रतिष्ठित ,  
आर्य - धर्म आश्वस्त हुआ ।  
 होते है निर्विघ्न यज्ञ अथ  
 जप - समाधि - तप - पूजा - पाठ ,  
 यश गाती हैं मुनि - कन्याएं ,  
 कर व्रत - पर्वोत्सव के ठाठ ।  
 “धन्य” भरत बोले गद्गद हो—  
 “दूर विकृति वैगुण्य हुआ ,  
 उस तपस्विनी मेरी माँ का  
 आज पाप भी पुण्य हुआ ।  
 तदपि राक्षसों के विरोध की  
 हुई मुझे नूतन शका ,  
 विश्रुत बली - छली है रावण ,  
 सोने की जिसकी लंका ।”  
 “नाथ, बली हो कोई कितना  
 यदि उसके भीतर है पाप ,  
 तो गजभुक्तकपित्थ - तुल्य वह  
 निष्फल होगा अपने आप ।”

"प्रिये, ठीक है किन्तु हमे भी  
 करना है वक्तव्य विचार ,  
 जलते जलते भी अधमेन्धन  
 छिटकाता है निज अगार ।  
 हत वैरी का भी क्या हमको  
 करना पड़ता नहीं प्रबन्ध ,  
 जिसमे सड़कर उसका शव भी  
 फैलावे न कही दुर्गन्ध ।  
 पुण्य लाभ करने से भी है  
 पाप काटना कठिन कठोर ,  
 कुसुम-चयन-सा सहज नहीं है  
 कांटो से बचना उस ओर ।  
 पूर्व पुण्य के क्षय होने तक  
 पापी भी तो दुर्जय है ,  
 सरला - शबला आर्या ही के  
 लिए आज मुझको भय है ।  
 - मायावी राक्षस—वह देखो ।"  
 चौक वीरवर ने थोड़ा ,  
 दीख न पड़ा चढ़ाकर धन्वा  
 कब शर जोड़ा, कब छोड़ा ।

“हा लक्ष्मण ! हा सीते !” दारुण

आर्तनाद गूँजा ऊपर ,

और एक तारक-सा तत्क्षण

टूट गिरा सम्मुख भू पर ।

चौंक उठे सब “हरे ! हरे !” कह-

“हा ! मैंने किसको मारा !”

आहत जन के शोणित पर ही

गिरी भरत - रोदन - धारा ।

दौड़ पड़ी बहु दास - दासियाँ ,

मूर्च्छित-सा था वह जन मीन ,

भरत कह रहे थे सहलाकर—

“बोलो भाई तुम हो कौन ?”

कहा माण्डवी ने तब बढकर—

“अब आतुरता ठीक नहीं ,

-सजीवनी महोपधि की हो

नाथ, परीक्षा क्यों न यही ?”

“साधु-साधु” कह स्वयं भरत ही

जाकर उसको ले आये ,

चमत्कार था, नये प्राण - से

उस आहत जन ने पाये ।

आँखें खोल देखती थी वह  
 विकट मूर्ति हट्टी - कट्टी ,

अपना अचल फाड़ माण्डवी  
 उसे बाँधती थी पट्टी !

“अहा ! कहाँ मैं, क्या सचमुच ही  
 तुम मेरी सीता माता ?

ये प्रभु है, ये मुझे गोद में  
 लेटाये लक्ष्मण भ्राता ?”

तात ! भरत, शत्रुघ्न, माण्डवी  
 हम सब उनके अनुचारी ,  
 म हो कौन, कहाँ कैसे हैं  
 वे खर - दूषण - संहारी ?”

किंकीरी उठ खड़ा हो गया ,  
 पूछा उसने—“कितनी रात ?”

‘अर्द्धप्राय’ “कुशल है तब भी ,

अब भी है वह दूर प्रभात ।  
 न्य भाग्य, इस किंकर ने भी

उनके शुभ दर्शन पाये ,  
 जनकी चर्चा कर सदैव ही

प्रभु के भी आँसू आये ।

मेरे लिए न आतुर हो तुम ,

कहाँ पार्श्व का अब वह घाव ?

अम्बा के इस अचल - पट में

पुलकित मेरा चिर शिशु-भाव !

आजनेय को अधिक कृती उन

कार्तिकेय से भी लेखो ,

माताएँ ही माताएँ हैं

जिसके लिए जहाँ देवो ।

पर विलम्ब से हानि, सुनो मैं

हनुमान, मारुति, प्रभुदास ,

सजीवनी - हेतु जाता है

योग - सिद्धि से उड़ कंलास ।”

“प्रस्तुत है वह यही, उसीसे

प्रियवर, हुआ तुम्हारा प्राण ।”

“आहा ! मेरे साथ बचाये

तुमने लक्ष्मण के भी प्राण ।

थोड़े में वृत्तान्त मुनो अब

सर - दूषण - सहारी का ,

तुम्हे विदित ही है वह विक्रम

उन, दण्डक वन - चारो का ।

हरो हरी वनधरा रुधिर से  
 लाल हुई हलकी होकर,  
 शूर्पणखा लका मे पहुँची,  
 रावण से बोली रोक-  
 'देखो, दो तापस मनुजों ने  
 कैसी गति की है मेरी,  
 उनके साथ एक रमणी है,  
 रति भी हो जिसकी चेरी।  
 भरतखण्ड के दण्डक वन में  
 वे दो धन्वी रहते हैं,  
 स्वयं पुनीत—नही, पावन वन,  
 हमें पतिन जन कहते हैं।'  
 शूर्पणखा की बातें सुनकर  
 क्षुब्ध हुआ रावण मानी,  
 वैर-शुद्धि के मित्र उस खल ने  
 सीता हरने की ठानी।  
 तब मारीच निशाचर से वह  
 पहले कपट मंत्र करके,  
 उसे साथ ले दण्डक वन में  
 आया साधु-वेश धरके।

हेम-हरिण बन गया वहाँ पर  
 आकर मायावी मारीच ,  
 श्रीसीता के सम्मुख जाकर  
 लगा लुभाने उनको नीच ।  
 मर्म समझ हँसकर प्रभु बोले—  
 'सब सुचर्म पर मरते हैं ।  
 इसे मार हम प्रिये, तुम्हारी  
 इच्छा पूरी करते हैं ।  
 भाई, सावधान ।' यह कहकर  
 और धनुष पर रखकर बाण ,  
 उस कुरग के पीछे प्रभु ने  
 क्रीडा पूर्वक किया प्रयाण ।  
 अरुण-रूप उस तरुण हरिण की  
 देख किरण - गति, ग्रीवाभग ,  
 सकरुण नरहरि राम रग से  
 गये दूर तक उसके संग ।  
 समझ अन्त में उसका छल जो  
 छोड़ा इधर उन्होंने बाण ,  
 'हा लक्ष्मण ! हा सीते !' कहकर  
 छोड़े उधर छली ने प्राण ।

सुनकर उसको कातरोक्ति वह  
 चबल हुई चौक सीता ,  
 क्या जानें प्रभु पर क्या बीतो ,  
 वे हो उठी महा भीता ।  
 लक्ष्मण से बोली—‘शुभ-लक्षण !  
 यह पुकार कंसी है हाय !  
 जाओ, भटपट जाकर देखो ,  
 आर्यपुत्र जैसी है हाय !’  
 लक्ष्मण ने समझाया उनको—  
 ‘भाभी, भय न करो मन मे ,  
 कर सकता है कौन आर्य का  
 अहित तनिक भी त्रिभुवन में ।  
 तुम कहती हो—पर यह मेरा  
दक्षिण नेत्र फडकता है ,  
 आशका - आतंक - भाव से  
 आतुर हृदय घडकता है ।  
 तदपि मुझे उनके प्रभाव का  
 है इतना विस्तृत विश्वास ,  
 हिलता नहीं केश तक मेरा ,  
 क्या प्रवम्प है, क्या निःश्वास !’



'किन्तु तुम्हारे ऐसे निमन  
 प्राण कहां से मैं लाऊँ ?  
 और कहां तुम्हारा जड़-निर्दय  
 यह पापारा हृदय पाऊँ ?'  
 कहा क्रुद्ध होकर देवी ने—  
 'घर बैठो तुम, मैं जाऊँ,  
 जो यों मुझे पुकार रहा है,  
 किनो काम उनके आऊँ ।  
 क्या क्षत्रिया नहीं मैं दोलो,  
 पर तुम कैसे क्षत्रिय हो ?  
 इतने निष्क्रिय होकर भी जो  
 बनते थे स्वजनप्रिय हो ।'  
 'हा ! आर्ये, प्रिय की अप्रियता  
 करने को कहनी हो तुम,  
 यदि न करूं मैं तो गृहिणी को  
 भाँति नहीं रहती हो तुम ।  
 मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको  
 तुम, क्या समझोगी देवी,  
 रहा दास ही और रहूँगा  
 सदा तुम्हारा पद-सेवी ।

उठा पिता के भी विरुद्ध मैं ,  
 किन्तु आर्य - भार्या हो तुम ,  
 इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ ,  
 अबला हो, आर्या हो तुम !  
 नहीं अन्ध ही, किन्तु वधिर भी ,  
 अबला वधुओं का अनुराग ,  
 जो हो, जाता हूँ मैं, पर तुम  
 करना नहीं कुटी का त्याग ।  
 रहता इस रेखा के भीतर ,  
 क्या जानें अब क्या होगा ,  
 मेरा कुछ बश नहीं, कर्म - फल  
 कहाँ न कब किसने भोगा ?  
 कसे निपग पीठ पर प्रस्तुत  
 और हाथ में धनुष लिये ,  
 गये शीघ्र रामानुज वन में  
 आर्त्त - नाद को लक्ष किये ।  
 शून्याश्रम से इधर दशानन ,  
 मानो श्येन कपोती को ,  
 हर ले चला विदेहसुता को—  
 भय से अबला रोती को !”

कह सशोक 'हा !' दोनो भाई  
 लगे सकोप पटकने हाथ ,  
 रोने लगी माण्डवी—“जीजी  
 तुमसे तो उर्मिला सनाथ !”  
 आगे सुनने को आतुर हो  
 सबने यह आघात सहा ,  
 हनुमान ने धीरज देकर  
 शीघ्र शेष वृत्तान्त कहा—  
 “चिल्ला तक न सकी ध्वराकर  
 वे अचेत हो जाने से ,  
 भाँय भाँय कर उठा किन्तु वन ,  
 निज लक्ष्मी खो जाने से ।  
 वृद्ध जटायु वीर ने खल के  
 सिर पर उड़ आघात किया ,  
 उसका पक्ष किन्तु पापो ने  
 काट केतु-सा गिरा दिया ।  
 गया जटायु इधर सुरपुर को  
 उधर दशानन लका को ,  
 क्या विलम्ब लगता है आते  
 आपद को, आशका को ?

आकर खुला शून्य पिंजर - सा  
 दोनो ने आश्रम देखा ,  
 देवी के बदले वस उनका  
 विभ्रम देखा, भ्रम देखा ।  
 ~ "प्रिये प्रिये, उत्तर दो मैं ही  
 करता नही पुकार अभग ,  
 शून्य कुञ्ज-गिरि गुहा गर्त भी  
 तुम्हे पुकार रहे हैं सग ।"  
 लक्ष्मण ने, मैंने भी देखा ,  
 सोती थी जब सारी सृष्टि ,  
 एक मेघ उठ—'भीते । सीते ।'  
 गरज गरज करता था वृष्टि ।  
 उनके कुसुमाभरण मार्ग मे  
 थे जिस ओर पड़े उच्छिन्न ,  
 उन्हे बीनते हुए विलपते  
 चले खोज करते वे सिन्न ।  
 'जिनके अलंकार पाये है ,  
 आर्य उन्हे भी पावेंगे ,  
 सोचो, साधु भरत के भी क्या  
 साधन निष्फल जावेंगे ?

पच सकती है रदिमराशि क्या  
 महाग्रास के तम से भी ?  
 आर्य, उगलवा लूंगा अपनी  
 आर्या को मैं यम से भी ।  
 भेट सकेगा कौन विश्व के  
 पातिव्रत को लीक, कहो ?  
 यह अम्बर उम अग्नि-शिखा को  
 ढँक न सकेगा दुखो न हो ।'  
 'काल-फणो की मणि पन्-जिसने  
 फैलाया है अपना हाथ,  
 उसी अभागे का दुख मुझको'—  
 बोले लक्ष्मण से रघुनाथ ।  
 कर जटायु-सस्कार धीच मे  
 दोनो ने निज पथ पकड़ा,  
 आगे किसी कवन्धासुर ने  
 अजगर ज्यो उनको जकड़ा ।  
 मारा बाहु काट वैरी को,  
 बन्धु-सदृश फिर दाह किया,  
 सदा भाव के भूखे प्रभु ने  
 शवरी का आतिथ्य लिया ।

यो ही चलकर पम्पासर का  
 पत्र - पुष्प - अर्पण      देखा ,  
 निज वृश करुण-मूर्ति का मानो  
 प्रभु ने वह दर्पण देखा ।  
 आगे ऋष्यमूक पर्वत पर ,  
 वानर ही कहिये, हम थे ,  
 विषम प्रकृति वाले होकर भी  
 आकृति मे नर के सम थे ।  
 था सुग्रीव हमारा स्वामी ,  
 मन के दुखो का मारा ,  
 कामी अग्रज बलो बालि ने  
 हर ली जिसकी धन-दारा ।  
 इस किकर ने उतर अद्रि से  
 दया - दृष्टि प्रभु की पाई ,  
 सहज सहानुभूति-वश उसपर  
 प्रीति उन्होंने दिखलाई ।  
 लिये जा रहा था रावण-वक  
 जब शफरी-सो सीता को ,  
 देखा हमने स्वयं तडपते  
 उन पद्मिनी पुनीता को ।

/ हिम-सम अश्रु और मोती का  
 हार उन्होंने, हमे निहार,  
 उभल दिया मानो भोके से,—  
 देकर निज परिचय दो वार ।  
 अश्रु-विन्दु तो पिरो ले गईं  
 किरणें स्वर्गभरण विचार,  
 उनका स्मारक छिन्न हार ही  
 हुआ वहाँ प्रभु का उपहार ।  
 कह सुकण्ठ को बन्धु उन्होंने  
 किया कृतार्थ अक भर भेट,  
 बवंर पशु कह एक बाण से  
 किया बालि का फिर आखेट ।  
 इसके पहले ही विभु-बल का  
 था हमको मिल चुका प्रमाण,  
 फोड़ गया था सात ताल-तरु  
 वहाँ एक ही उनका बाण ।

वर्षा - काल बिताया प्रभु ने  
 उसी शैल पर शकर - रूप ,  
 हुआ सती सीता के मुख-सा  
 शरच्चन्द्र का उदय अनूप ।  
 भूला पाकर किष्किन्धा का  
 राज्य और दारा सुग्रीव ,  
 स्वयं ब्रह्म ही मायामय है ,  
 कितना-सा है जन का जोव ?  
 भूल मित्र का दुःख शशु-सा  
 मुख भोगे, वह कैसा मित्र ?  
 पहुँचे पुर में प्रकुपित होकर  
 धन्वी लक्ष्मण चारु - चरित्र ।  
 तारा को आगे करके तब  
 नत वानरपति शरण गया ,  
 देख दोन अबला को सम्मुख  
 आवेगी किसको न दया ?  
 गये सहस्र सहस्र कीश तब  
 करने को देवी की खोज ,  
 दी मुद्रिका मुझे प्रभुवर ने ,  
 फेरा मुझपर स्वर्ण ज ।



दुस्तर क्या है उसे विश्व में  
 प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान ?  
 पार किया मकरालय मैंने  
 उसे एक गोप्पद - सा मान ।  
 देस एक दो विघ्न बोच मे  
 हुआ मुझे उलटा विश्वास—  
 बाधाओं के भीतर ही तो  
 कार्य - सिद्धि करती है वास ।

— निरख शत्रु की स्वर्णपुरी वह  
 मुझे दिशा - सी भूली थी ,  
 नील जलधि मे लका थी या  
 नभ में सन्ध्या फूली थी !  
 भौतिक विभूतियों की निधि-सी ,  
 छवि की छत्रच्छाया - सी ,  
 यन्त्रों - मन्त्रों - तन्त्रों की थी  
 वह त्रिकूटिनी माया - सी !  
 उस भव - वैभव की विरक्ति-सी  
 वैदेही व्याकुल मन मे ,  
 भिन्न देश की खिन्न लता-सी ,  
 पहुँचानी अशोक - वन मे ।

क्षण क्षण मे भय खाती थी वे  
 करण करण आँसू पोती थी ,  
 आशा की मारी देवी उस  
 दस्यु - देश मे जोती थी ।  
 थी उस समय रात, मैं छिपकर  
 अश्रु पोछ था देख रहा ,  
 आकर काल - रूप रावण ने  
 उन मुमूर्षु के निकट कहा—  
 'कहा मान अब भी हे मानिनि ,  
 वन इस लका की रानी ,  
 कहाँ तुच्छ वह राम ? कहाँ मैं  
 विश्वजयी रावण मानी ?'  
 'जीत न सका एक अबला का  
 मन तू विश्वजयी कैसा ?  
 जिन्हे तुच्छ कहता है, उनसे  
 भागा क्यों, तस्कर, ऐसा ?  
 मैं वह सीता हूँ, सुन रावण ,  
 जिसका खुला स्वयंवर था ,  
 वर लाया क्यों मुझे न पामर ,  
 यदि यथार्थ हो तू नर था ?

वर न सका कापुरुष, जिसे तू ,  
 उसे व्यर्थ ही हर लाया ,  
 अरे, अभाग, इस ज्वाला को  
 क्यों तू अपने घर लाया ?  
 / भाषण करने में भी तुझसे  
 लग न जाय हा ! मुझको पाप ,  
 शुद्ध कहूँगी मैं इस तनु को  
 अग्नि - ताप में अपने आप ।'  
 विमुख हुई मौनव्रत लेकर  
 उस ! खल के प्रति पतिव्रता ,  
 एक मास की अवधि और दे  
 गया पतित, वे रही होता ।  
 जाकर तब देवी के सम्मुख  
 मैंने उन्हें प्रणाम किया ,  
 प्रभु की नाम - मुद्रिका देकर  
 परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया ।  
 'करें न मेरे पीछे स्वामी  
 विषम वृष्ट - साहस के काम ,  
 यही दुःखिनी सीता का सुख—  
 सुखी रहे उसके प्रिय - राम ।

मेरे घन वे घनश्याम ही ,  
 जानेगा यह अरि भी अन्व ,  
 इसी जन्म के लिए नहीं है  
 राम - जानकी का सम्बन्ध ।  
 देवर से कहना—मैंने जो  
 मानी नहीं तुम्हारी बात ,  
 उसी दोष का दण्ड मिला यह ,  
 क्षमा करो मुझको अब तात ।'  
 मैंने कहा—अम्ब, कहिए तो  
 अभी आपको ले जाऊँ ?  
 बोली वे—क्या चोरी चोरी  
 मैं अपने प्रभु को पाऊँ ?'  
 माँग अनुज्ञा मैंने उनसे  
 उस उपवन के फल खाये ,  
 और उजाडा उसे प्रकृति-वश ,  
 मारे जो रक्षक आये ।  
 आया तब कुछ सैनिक लेकर  
 एक पुत्र रावण का अक्ष ,  
 बिटपो से भट मार, शत्रु का  
 तोड़ दिया घूंसे से वक्ष ।

तब लका पर हुई चढाई ,  
 सजो ऋक्ष - वानर - सेना ,  
 मिल मानो दो सलिल-राशियाँ  
 उमडो फैलाकर केना ।  
 भग - भित्तियाँ उठा उठाकर  
 सिन्धु रोकने चला प्रवाह ,  
 बाँधा गया किन्तु उलटा वह ,  
 सेतु रूप ही है उत्साह ।  
 नीलनभोमण्डल-सा जलनिधि ,  
 पुल था छायापथ-सा ठीक ,  
 खींच दो गई एक अमिट-सी  
 पानी पर भी प्रभु की लीक !

उधर विभोषण ने रावण को  
 पुनः प्रेम - वश समझाया ,  
 पर उस साधु पुरुष ने उलटा  
 देशद्रोही पद पाया !

तात, देश की रक्षा का हो  
 कहता हूँ मैं उचित उपाय ,  
 पर वह मेरा देश नहीं जो  
 करे दूसरों पर अन्याय ।  
 किसी एक सीमा में बँधकर  
 रह सकते हैं क्या ये प्राण ?  
 एक देश क्या, अखिल विश्व का  
 तात, चाहता हूँ मैं प्राण ।  
 चार घमं पर राज्य जिन्होंने  
 वन का दारुण दुख भोगा ,  
 वे यदि मेरे बँरी होमे ,  
 तो फिर बन्धु कौन होगा ?  
 शत्रु नहीं, शासक वे सबके ,  
 आप न इस मद में भूलें ,  
 गुह्यतम गज भी सह सकता है  
 क्या लघु अकुश की हूलें ?  
 परनारी, फिर सती और वह  
 त्याग-मूर्ति सीता-सी सृष्टि ,  
 जिसे मानता हूँ मैं माता ,  
 आप उसीपर करें कुदृष्टि !

उड़ जावेगा दग्ध देश का  
 सती - श्वास से हो बल - वित्त ,  
 राम श्रीर लक्ष्मण तो होंगे  
 कहने भर के लिए निमित्त ।'  
 उपचारक पर रूक्ष रुग्ण - सा  
 रावण उलटा क्षुब्ध हुआ—  
 'निकल यहाँ से, शत्रु - शरण जा ,  
 जिसके गुण पर लुब्ध हुआ ।'  
 'जैसी आज्ञा,' उठा विभीषण ,  
 यह कह उसने किया प्रयाण—  
 'जैचा इसीमें तात, मुझे भी  
 निज पुलस्त्य-कुल का कल्याण ।'  
 वैरी का भाई था, फिर भी  
 प्रभु ने बन्धु - समान लिया ,  
 उसको शरणागत विलोककर  
 हित से समुचित मान दिया ।  
 कहा मन्त्रियो ने कुछ, तब वे  
 बोले—'दुर्बल हैं हम क्या ?  
 छले धर्म ही हमें हमारा ,  
 तो है भला यही कम क्या ?'

प्रभु ने दूत भेज रावण को  
 दिया और भी अवसर एक,  
 हित में अहित, अहित ही मे हित,  
 किन्तु मानता है अविवेक।  
 सर्वनाशिनी वर्वरता भी  
 पाती है विग्रह मे नाम,  
 पड़ा योग्य ही रक्षो को हम  
 ऋक्ष-धानरो से अब काम।  
 आयुध तो अतिरिक्त समझिए,  
 अस्त्र आप हैं अपने अग,  
 दन्त, मुष्टियाँ, नख, कर, पद सब  
 चलने लगे सग ही सग।  
 मार मार हुंकार साथ ही  
 निज निज प्रभु का जयजयकार,  
 बहते विटप, डूबते प्रस्तर,  
 बुझते शोणित मे अगार।  
 निज आहार जिन्हे कहते थे,  
 राक्षस अपने मद में 'भूल',  
 हुए अजीर्ण वही हम उनके  
 मारक गुल्म, विदारक शूल।



रण तो राम और रावण का ,  
 पण परन्तु है लक्ष्मण का ,  
 शौर्य - वीर्य दोनों के ऊपर  
 साहस उन्ही सुलक्षण का ।  
 लड़ना छोड़ छोड़कर, बहुधा  
 देखा मैंने उनका युद्ध ,  
 निकले - घुसे घनो में रवि ज्यों ,  
 रह न सके क्षण भर भी रुद्ध ।  
 शेल-शूल, असि-परसु, गदा-घन ,  
 तोमर - भिन्दिपाल, शर - चक्र ,  
 शोणित बहा रही हैं रण में  
 विविध सार - धाराएँ वक्र ।  
 'आरे, आ, जारे, जा !' कह कह  
 भिड़ते है जन जन के साथ ,  
 घनघन, भनभन, सनसन निस्वन  
 होता है हनहन के साथ !  
 नीचे स्यार पुकार रहे हैं ,  
 ऊपर मडराते हैं गिद्ध ,  
 सोने की लका मिट्टी में  
 मिलती है लोहे से विद्ध !

भेद नहीं पाते हैं रविवर  
 दिया शून्य को रज ने पाट ,  
 पर अमोघ प्रभु के शर सर तर  
 जाते हैं अरिबुल को काट ।  
 अपने जिन अगणित वीरो पर  
 गर्वित था वह राक्षसराज ,  
 एक एक करके भो मरकर  
 हुए नगण्य अहो वे आज ।  
 दांत पीसकर, ओठ काटकर ,  
 करता है वह क्रुद्ध प्रहार  
 पर हंस हँसकर ही प्रभु सबका  
 करते हैं पल में प्रतिकार ।  
 देखा आह ! आज ही मैंने  
 उन्हें क्रोध करते कुछ काल ,  
 बाँप उठे भय से हम सब भी  
 वहाँ शत्रुओं का क्या हाल ?  
 बुधित इन्द्रजित ने क्रम क्रम से  
 सबको देख काल की भेट ,  
 — छोड़ी लक्ष्मण पर लका की  
 मानो सारी शक्ति समेट ।

विधि ने उसे अमोघ किया था ,  
 पर न हटे रामानुज धीर ,  
 इसी दास ने दौड़ उठया  
 हा ! उनका निश्चेष्ट शरीर ।

धैर्य न छोड़ें आप, शान्त हो ,  
 भक्षक से रक्षक बलवान ,  
 उन्हें देख 'हा लक्ष्मण !' कहकर  
सजल हुए प्रभु जलद - समान ।  
 जगी उसी क्षण विद्युज्ज्वाला ,  
 गरज उठे होकर वे क्रुद्ध ,—  
 'आज काल के भी विरुद्ध है  
 युद्ध - युद्ध वस मेरा युद्ध !  
 रोऊंगा पीछे होऊंगा  
 उक्तुण प्रथम रिपु के ऋण से ।'  
 प्रलयानल - से बढे महाप्रभु ,  
 जलने लगे शत्रु तृण-से ।

एक असह्य प्रकाश-पिण्ड था ,  
 छिपो तेज मे आकृति आप ,  
 बना चाप हो रविमण्डल - सा ,  
 उगल उगल शर-किरण-कलाप ।  
 कोप - कटाक्ष छोड़ता हो ज्यो  
 भृकुटि चढ़ाकर बाल कराल ,  
 क्षण भर मे हो दिन-भिन्न सा  
 हुआ शत्रु - सेना का जाल ।  
 क्षुब्ध नक्र जैसे पानो मे ,  
 पर्वत मे जैसे विस्फोट ,  
 अरि - समूह मे विभु वैसे ही  
 करते थे चोटो पर चोट ।  
 कर-पद रुण्ड-मुण्ड ही रण मे  
 उड़ते, गिरते, पड़ते थे ,  
 कल कल नही, किन्तु भल भलकर  
 रक्तस्रोत उमड़ते थे ।  
 रिपुओ की पुकार भी मानो  
 निष्फल जाती बारवार ,  
 गूंज उसे भी दवा रही थी  
 उनके धन्वा की टकार ।



अश्व, सारथी और शत्रुभुज  
 एक बाण ने वेध दिया,  
 मूर्च्छित छोड़ उन्होंने उसको  
 अगणित अरि पदु-मेघ किया।  
 आँधी में उड़ते पत्तो - से,  
 दलित हुए सब सेनानी,  
 पर उस मेघनाद के बदले  
 आया कुम्भकण मानी।  
 'भाई वा बदला भाई ही'  
 गरज उठे वे घन - गम्भीर,  
 गज पर पचानन - सम उसपर  
 टूट पड़े उसका दल चीर।  
 'अनुमोदक तो नहीं किन्तु निज  
 अग्रज का अनुगत हूँ मैं,  
 निद्रा और कलह दो में ही  
 राघव, सन्तत रत हूँ मैं।  
 वज्रदन्त, धूम्राक्ष नहीं मैं,  
 नहीं अकम्पन और प्रहस्त,  
 राम, सूर्य-मम होकर भी तुम  
 समझो मुझको अपना अस्त।'

'निद्रा और कलह का, कौणप ,  
 तू बखान कर रहा सगर्व ,  
 जाग, सुलाऊँ तुझे सदा को ,  
 भेटूँ कलह - कामना सब ।'  
 उस उत्पाती धन ने अपने  
 उपल - वज्र बहु बरसाये ,  
 किन्तु प्रभजन - बल से प्रभु के  
 उड़ो धज्जियाँ, शर छाये ।  
 गिरा हमारे दल पर गिरि-सा  
 मरते मरते भी वह घोर ,  
 ग्रेड धनुशर बोले प्रभु भी  
 कर युग कर रावण की ओर—  
 आ भाई, वह बैर भूलकर ,  
 हम दोनों समदुःखी मित्र ,  
 आ जा क्षण भर भेंट परस्पर ,  
 कर लें अपने नेत्र पवित्र !'  
 हाय ! किन्तु इसके पहले ही  
 मूर्च्छित हुआ निशाचर - राज ,  
 प्रभु भी यह कह गिरे—'राम से  
 रावण ही सहृदय है आज !'

सन्ध्या की उस धूसरता में  
 उमड़ा वरुणा का उद्रेक,  
 छलक छलककर भलके ऊपर  
 नभ के भी आँसू दो एक।  
 हम सब हाथों पर संभालकर  
 उन्हें गिरिर में ले आये,  
 देख अनुज की दशा दमामय,  
 दुगुने आँसू भर लाये।  
 'सर्व कामना मुझे भेंटकर  
 वत्स, कीर्ति - कामी न बनो,  
 रहे सदा तुम तो अनुगामी,  
 आज अग्रगामी न बनो !'  
 समझाया बैद्यो ने उनको—  
 'आर्य, अघोर न हो इस भाँति,  
 अब भी आशा, वही करें वस  
 सफल हो सके वह जिस भाँति।'  
 'तुच्छ रक्त क्या, इस शरीर में  
 डालो कोई मेरे प्राण,  
 गत सुनकर भो मुझे जानकी  
 पावेगी दुखो से त्राण।'



## द्वादश सर्ग

ढाल लेखनी, सफल अन्त में मसि भी तेरी ,  
तनिक और हो जाय अस्ति यह निशा अँधेरी ।  
ठहर तमी, कृष्णाभिसारिके, कण्ठक, कढ जा ,  
बढ सजीवनि, आज मृत्यु के गढ पर चढ जा !  
भलको, भलमल भाल-रत्न, हम सबके भलको ,  
हे नक्षत्र, सुधाद्रं - विन्दु तुम छलको छलको ।  
करो श्वास-सचार वायु, बढ चलो निशा में ,  
जीवन का जय - केतु अरुण हो पूर्व दिशा में ।  
ओ कवि के दो नेत्र, अनल - जल दोनों बरसो ,  
लक्ष्मण - सा तनु कहाँ, प्राण ! पाओगे, सरसो ।  
देखो, वह शत्रुघ्न - दृष्टि मानो दहती है ,  
सदय भरत, यह सुनो, माण्डवी क्या कहती है ?—

“कातर हो तुम आर्यपुत्र, होकर नर नामी ,  
तो अबला क्या करे, बता दो मुझको स्वामी ?  
पर इतना भी आज तुम्हें अवकाश कहाँ है ?  
पुनः परीक्षक हुआ हमारा दैव यहाँ है ।  
भव ने इतना भाव - विभव हमसे है पाया ,  
उस भावुक को हाय ! तदपि सन्तोष न आया ।  
फिर भी सम्मुख अड़ा खड़ा वह भिक्षुक भूखा ,  
दया करो हे नाथ, दीन का मुख है सूखा !  
हम क्या अब कुछ और नहीं दे सकते उसको ?  
आदर से इस ठौर नहीं ले सकते उसको ?  
क्या हम उससे नहीं पूछ सकते हैं इतना—

{ भाई, हमसे तुझे चाहिए अब क्या कितना ? ”

“प्रस्तुत हैं ये प्राण, किन्तु वह सह न सकेगा ,  
इनको लेकर प्रिये, शान्ति से रह न सकेगा ।

देखूँ, जलनिधि जुड़ा सके यदि इनकी ज्वाला ,—  
पहने है जो स्वर्णपुरी की शाला - माला । ”

“स्वामी, निज कर्त्तव्य करो तुम निश्चित मन से ,  
रहो कही भी, दूर नहीं होंगे इस जन से ।  
डरा सकेगा अब न आप दुर्दम यम मुझको ,  
है अपनों के संग मरण जीवन - सम मुझको ।

तो अदृश्य है वही हमें शक्ति करता है,  
 वेकृताकृतियाँ अधकार अकित करता है।  
 केन्तु मुझे अब नहीं किसीका कोई भय है,  
 भीषण होता स्वयं निराशा - पूर्ण हृदय है।  
 न सही, यदि यह लोक हमारे लिए नहीं है,  
 हम सब होंगे जहाँ, हमारा स्वर्ग वही है।  
 दैव—अभागा दैव—हमारा क्या कर लेगा?  
 श्रद्धाजलि चिरकाल भुवन भर, भर भर देगा।  
 सवादो को वायु वहन कर फैलाती है,  
 अन्तःपुर की याद मुझे रह रह आती है।”  
 “जाओ, जाओ, प्रिये, सभीको शीघ्र सँभालो,  
 यह मुख देखें शत्रु, यहाँ तुम देखो - भालो।”

उठी माण्डवी कर प्रणाम प्रिय चरण भिगोकर,  
 बोले तब शत्रुघ्न शूर सम्मुख नत होकर—  
 “जाओगी क्या तुम निराश हो? जाओ आर्ये,  
 इसी भाँति इस समय स्वस्थता पाओ आर्ये!  
 सुनती जाओ, किन्तु, तुम्हें है व्यर्थ निराशा,  
 है अपना ही उदय, और अपनी ही आशा।

रूठा और अदृष्ट मनाने की बातों से, )  
तो मैं सोचा उसे करूँगा आधातो से ।” )

“विजयी हो तुम तात, और क्या आज कहूँ मैं ?  
पर आशा की और कहाँ तक ऐंठ सहेँ मैं ?  
मेरा भी विश्वास एक, क्यों व्यर्थ बहूँ मैं ?  
हुई आज निश्चिन्त, कही भी क्यों न रहूँ मैं ।  
जो कुछ भी है प्राप्य यहाँ, मैंने सब पाया,  
हुई पूर्ण परितृप्त हृदय की ममता - माया ।  
मुझे किसोके लिए उलटना नहीं रहा अब,  
मुक्त-सा प्रत्यय प्राप्त करें सब ओर अहा ! सज ।”

देकर निज गुञ्जार - गन्ध मृदु - मन्द पवन को,  
चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज - भवन को ।  
रहे सज-से भरत, कहा—“शशुन्न ।” उन्होंने,  
उत्तर पाया—“आय ।” लगे दोनों ही गेने ।  
“हनूमान उड़ गये पवन - पथ से हैं कैस ?”  
“जल में पल समेट शफर सरंक ले जैसे ।  
उठना वह वातूल वेग से है कब ऐसे ?  
नहीं, आर्य का वाण गया था उनपर, वैसे ।”

“और यहाँ हम विवश बने बैठे हैं कैसे ?”  
 सुन नीरव शशुन्न रहे जैसे के तैसे ।  
 “लोग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं ?”  
 “आर्य, नाम के पूर्व साधु-पद वे देते हैं ।”  
 “भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,  
 सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में ।  
 बैठा है मैं भण्ड साधुता धारण करके—  
 अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धरके !  
 कलुषित कैसे शुद्धि सलिल को आज कहें मैं,  
 अनुज, मुझे रिपु-रक्त चाहिए, डूब मरूँ मैं !  
 भेटूँ अपने जड़ोभूत जीवन को लज्जा,  
 उठी, इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा ।  
 पीछे आता रहे राज-मण्डल दल-बल से,  
 पथ में जो जो पड़ें, चलें वे जल से—थल से ।  
 सजे अभो साकेत, बजे हाँ, जय का डंका,  
 रह न जाय अब कही किसी रावण की तका !  
 माताओं से माँग विदा मेरी भी लेना,  
मैं लक्ष्मण-पथ-पथी, ऊर्मिला से बह देना ।  
 लौटूँगा तो साथ उन्हींके, और नहीं तो—  
 नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला वही तो !”

सिर पर नत शत्रु भरत - निर्देश घरे थे ,  
 पर 'जो आज्ञा' कह न सके, आवेश-भरे थे ।  
 छूकर उनके चरण द्वार की ओर वढे वे ,  
 भोके पर ज्यो गन्ध, अश्व पर क्रुद चढे वे ।  
 निकला पडता वक्ष फोडकर वीर-हृदय था ,  
 उधर घरातल छोड आज उडता-सा हय था ।  
 जैसा उनके क्षुब्ध हृदय मे घड घड घड था ,  
 वैसा ही उस वाजि-वेग मे पड पड पड था ।  
 फड फड करने लगे जाग पेडो पर पक्षी ,  
 अपलक था आकाश धपल-वल्गित-गति-लक्षी ।  
 क्षण भर वह छवि देख स्वय विधि की मति मोही ,  
 सिरजा न हो तुरग - अग करके आरोही ।  
 उठ कौंधा - सा त्वरित राजतोरण पर आया ,  
 प्रहरी-दल से सजग सैन्य - अभिवादन पाया ।  
 क्रुद पडा रणधीर, एक ने अश्व सँभाला  
 नीरव ही सब हुआ, न कोई बोला - चाला

अन्त पुर मे वृत्त प्रथम ही घूम फिरा था  
 सबके सम्मुख विपम वज्र-सा टूट गिरा था

माताओं की दशा—हाय ! सूखे पर पाला,  
 जला रही थी उन्हें कँधाकर ठंडी ज्वाला ।  
 “अम्ब, रहे यह रुदन, वीरसू तुम, व्रत पालो,  
 ठहरो, प्रस्तुत वैर वह्नि पर नीर न डालो ।  
 हमने प्रेम-नयोधि भरा आँखों के जल से,  
 द्विपद्स्यु घब जलें हमारे द्वेपानल से ।  
 मात, कात न हो, अहो ! दुक धीरज धारो,  
 किनकी पत्नी और प्रसू तुम, तनिक विचारो ।  
 असुरों पर निज विजय सुरों ने पाई, जिनसे,  
 और यही खिच स्वर्ग-सगुणता आई जिनसे ।  
 जननि, तुम्हारे जात आज उन्नत हैं इतने,  
 उनके करगत हुए आप ऊँचे फल जितने ।  
 कही नीच अह विन्न रूप होकर अटकेंगे,  
 तो हम उनको तोड़ शिलाओं पर पटकेंगे ।  
 धर्म तुम्हारी ओर, तुम्हे फिर किसका भय है ?  
 जीवन में ही नहीं, मरण में भी निज जय है ।  
 मरें भले ही अमर, भोगते हैं जो जीकर,  
 मर मरकर नर अमर कीर्तनामृत पी पीकर ।  
 जनकर हमकी स्वयं जूझने को, रोती हो ?  
 गर्व करो, पयो व्यर्थ दीन-दुर्वल होती हो ।

करे हमारा वैरि - वृन्द ही कातर - क्रन्दन ,  
दो हमको आशीष अम्ब, तुम लो पद-वन्दन ।”

“इतना गौरव वत्स, नही सह सकती नारी,  
पिसते हैं ये प्राण, भार है भीषण भारी ।  
पाते हैं अवकाश निकलने का भी कब ये ?  
कहाँ जायं, क्या करें अभागे, अकृती अब ये ?  
किये कौन व्रत नही, कौन जप नही जपे हैं ?  
हम सबने दिन - रात कौन तप नही तपे हैं ?  
फिर भी ये क्या प्राण यही सुनने को ठहरे ?  
हुए देव भी हाय ! हमारे अन्धे - बहरे ।”

“अम्ब, तुम्हारे उन्ही पुण्य-कर्मों का फल है,  
हम सबमे जो आज धर्म - रक्षा का बल है ।  
थकता है क्यों हृदय हाय ! जब वह पकता है ?  
सुरगण उलटा आज तुम्हारा मुहं तकता है ।”

“बेटा, बेटा, नही समझती हूँ यह सब मैं,  
बहुत सह चुकी, और नही सह सकती अब मैं ।  
हाय ! गये सो गये, रह गये सो रह जावे,  
जाने दूँगी तुम्हे न, वे आवें जब आवें ।  
तुष्ट तुम्हीमे उन्हें देखकर रही, रहूँगी,  
तुम्हें छोड़कर निराधार मैं कहाँ बहूँगी ?



देखूँ तुम्हको कौन छीनने मुझसे आता ?”  
 पकड़ पुत्र को लिपट गई कोसल्या माता ।  
 धाड़ मारकर विलख रो पड़ी रानी भोलो ,  
 पाश छुड़ाती हुई सुमित्रा तब यो बोली—  
 “जोजो, जोजो, उसे छोड़ दो, जाने दो तुम ,  
 सोदर की गति अमर - समर में पाने दो तुम ।  
 सुख से सागर पार करे यह नागर मानी ,  
 बहुत हमारे लिए यही सरयू में पानी ।  
 जा, भैया, आदर्श गये तेरे जिस पथ से ,  
 कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अथ से ।  
 जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझको जैसा ,  
 लौटाती हूँ आज उसे वैसा का वैसा ।”  
 पोंछ लिया नयनाम्बु भानिनी ने अंचल से ,  
 कँकेयी ने कहा रोककर आँसू बल से—  
 “भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी ,  
 ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?  
 मूर्तिमती आपत्ति यहाँ से मुहँ मोड़ेगी ,  
 शत्रु-देश-सा ठौर मिला, वह क्यों छोड़ेगी ?”  
 “अम्ब, अम्ब, तुम आत्म-निरादर करती हो क्यों ?  
 दे तब नव यश हमें, अयश से डरती हो क्यों ?

क्षमा करो, आपत्ति मुझे भी लगती थी तुम ,  
मार्ग-दर्शनी किन्तु ज्योति-सी जगती थी तुम ।”

“वत्स, वत्स, पर कौन जानता उसकी ज्वाला ,  
उसके माथे वही धुवाँ है काला काला ।”

“जलता है जो जननि, जागकर वही जगाता ,  
जो इतना भी नहीं जानता, हाय ! ठगाता ।”

“मैं निज पति के सग गई थी अमुर-समर-मे,  
जाऊँगी अब पुन सग भी अरि-सगर-मे-।”

“घर बैठो तुम देवि, हेम को लका कितनी ?  
उतनी भी तो नहीं, धूल मुट्ठी भर जितनी ।

भरतखण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गये हैं,  
कट उनके वे कोटि कोटि कर नहीं गये हैं ।

रोना-धोना छोड़, उठो सब भगल गाओ,  
जाते हैं हम विजय-हेतु तुम दर्प जगाओ ।

रामचन्द्र के सग गये हैं लक्ष्मण वन मे,  
भरत जायें, शत्रुघ्न रहे क्या आज भवन मे ?

भाभी, भाभी सुनो, चार दिन तुम सब सहना ,  
‘मैं लक्ष्मण-पथ-पथी’ आर्य का है यह कहना—

लीटूंगा तो सग उन्हीके ओर नहीं तो—  
नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो ।”

ताराहारा चारु-चपल चाँदी की धारा ,  
 लेकर एक उसाँस वीर ने उसे निहारा ।  
 सफल सौध-भू-पटल व्योम के अटल मुकुर थे ,  
 उडुगगा अपना रूप देखते टुकुर टुकुर थे ।  
 फहर रहे थे केतु उच्च अट्टो पर फर फर ,  
 डाल रही थी गन्ध मृदुल मारुत—गति भर भर ।  
 स्वयमपि सशयशील गगन घन-नील गहन था ,  
 मोन-मकर, वृष-सिंह पूर्ण सागर या वन था ।  
 भोके झिलमिल भेल रहे थे दीप गगन के ,  
 खिल खिल, हिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के ।  
 निमिर-अक् मे जव अशक तारे पलते थे ,  
 स्नेह-पूर्ण पुर दीप दीप्ति देकर जलते थे ।  
 धूम-धूप लो, अहो उच्च ताराओ, चमको ,  
 लिपि मुद्राओ,—भूमि-भाग्य की, दमको दमको ।

करके ध्वनि-सकेत शूर ने शस्त्र बजाया ,  
 अन्तर का आह्वान वेग से बाहर आया ।  
 निबल उठा उच्चैःश्रवण वक्ष से उभर उभर के ,  
 हुआ कम्बु कृतकृत्य कण्ठ की अनुकृति बरके ।

उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तर मानो ; ✓  
 , एक-एक दो हुए, जिन्हे एकादश जानो !  
 यों ही शस्य असस्य हो गये, लगी न देरी ,  
 घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी ।  
 काँप उठा आकाश, चौंककर जगती जागी ,  
 छिपी क्षितिज में कही, सभय निद्रा उठ भागी ।  
 बोले वन में मोर, नगर में डोले नागर ,  
 करने लगे तरंग - भग सौ सौ स्वर - सागर ।  
 उठी क्षुब्ध-सी अहा ! अयोध्या की नर - सत्ता ,  
 सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता पत्ता ।  
 भय - विस्मय को शूर - दर्प ने दूर भगाया ,  
 किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया !  
 प्रिया - कण्ठ से छूट सुभट - कर शस्त्रो पर थे ,  
 त्रस्त - बधू - जन - हस्त स्रस्त - से वस्त्रो पर थे ।  
 प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया ,  
 बाहु बड़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया !  
 अपनी चिन्ता भूल उठी माता भट लपकी ,  
 देने लगी सँभाल वाल - बच्चों को थपकी—  
 “भय क्या, भय क्या हमे, राम राजा हैं अपने ,  
 दिया भरत-सा सुफल प्रथम ही जिनके तप ने !”

चरर - मरर खुल गये अरर बहु रवस्फुटो से ,  
 क्षणिक रुद्ध थे तदपि विकट भट उर पुटो से ।  
 बांधे थे जन पाँच पाँच आयुध मन भाये ,  
 पचानन गिरि - गुहा छोड़ ज्यो बाहर आये ।  
 “धरने आया कौन आग, मणियों के धोखे ?”  
 स्त्रियाँ देखने लगी दीप धर, खोल भरोखे ।  
 “ऐसा जड़ है कौन, यहाँ भी जो चढ़ आवे ?  
 वह थल भी है कहाँ, जहाँ निज दल बढ़ जावे ?  
 राम नहीं घर, यही सोचकर लोभी - मोही ,  
 क्या कोई माण्डलिक हुआ सहसा विद्रोही ?  
 मरा अभागा, उन्हें जानता है जो वन में ,  
 रमे हुए है यहाँ राम - राघव जन जन में ।”  
 “पुरुष - वेश में साथ चलूंगी मैं भी प्यारे ,  
 राम - जानकी सग गये, हम क्यों हो न्यारे ?”  
 “प्यारी, घर ही रहो ऊँमिला रानी - सी तुम ,  
क्रान्ति-अनन्तर मिलो शान्ति मनमानी सी तुम ।”  
 पुत्रो को नत देख धात्रियाँ बोली धीरा—  
 —“जाओ बेटा,—‘राम-बाज, क्षण-भग शरीरा’ ।”  
 पति से कहने लगी पत्नियाँ—“जाओ स्वामी ,  
 बने तुम्हारा वत्स तुम्हारा ही अनुगामी ।

जामो, अपने राम - राज्य की आन बजामो,  
वीर - वश को वान, देश का मान बजामो।”

“अम्ब, तुम्हारा पुत्र पैर पोछे न धरेगा,  
प्रिये, तुम्हारा पति न मृत्यु से कही डरेगा।  
फिर भी फिर भी ग्रहो ! विवर्त-सी तुम हो रोती ?”  
“हम यह रोती नहीं, वारती मानस - मोती !”

‘ ऐसे अगणित भाव उठे रघु - सगर - नगर मे ,  
‘ वगर उठे बढ अगर - तगर - से डगर छगर मे ।  
चिन्तित - से कापाय - वसनधारी सब मन्गी ,  
आ पहुँचे तत्काल, और बहु यन्गी - तन्गी ।  
चचल जल - थल - बलाध्यक्ष निज दल सजते थे ,  
भनभन घनघन समर - वाद्य बहु विध बजते थे ।  
पाल उडाती हुई, पल फैलाकर नायें—  
प्रस्तुत थी, कब विधर हसनी-सो उठ जायें ।  
हिलने डुलने लगे पक्षियो मे बँट वेछे ,  
थपकी देने लगी तरंगें मार थपेडे ।  
उलकाएँ सब ओर प्रभा - सी पाट रही थी ,  
पी पीकर पुर - तिमिर जीभ - सी चाट रही थी !

हुई हतप्रभ नभोजडित हीरो की कनियाँ ,  
मुक्ताग्रो - सी वेध न ले भालो की अनियाँ ।  
तुले धुले - से खुले खड्ग चमचमा रहे थे ,  
तप्त सादियों के तुरग तमतमा रहे थे ।  
हीस लगामे चाव, धरातल खूंद रहे थे ,  
उड़ने को उत्कर्ण कभी वे कूंद रहे थे !  
करके घटा - नाद, शस्त्र लेकर भुण्डो मे ,  
दो दो दृढ रव - दण्ड दवाकर निज तुण्डो मे ,  
अपने मद की नहीं आप ही ऊष्मा सहकर ,  
भलते थे श्रुति - तालवृन्त दन्ती रह रहकर ।  
योद्धाग्रो का धन सुवर्ण से सार सलोना ,  
जहाँ हाथ मे लौह वहाँ पैरो मे सोना !  
मानो चले सगेह रथोजन बैठ रथो मे ,  
आगे थे टकार और भकार पथो में ।

पूर्ण हुआ चोगान राज - तोरण के आगे ,  
कहते थे भट—“कहाँ हमारे शत्रु अभागे ?”  
दृग असमय उन्निद्र और भी अरुण हुए थे ,  
प्रौढ - जरठ भी आज तेज से तरुण हुए थे ।—

पीवर-भासल अस, पृथुल उर, लम्बी बाँहे,  
एकाकी हो शेष-भार ले लें, यदि चाहे !  
उछल उछल कच-गुच्छ विखरते थे कन्धो पर,  
रण-ककण थे खेल रहे दृढ मणिबन्धो पर ।  
खचित-तरणि, मणि-रचित केतु भकभका रहे थे,  
वस्त्र धकधका रहे, शस्त्र भकभका रहे थे ।  
हो होकर उद्ग्रीव लोग टक लगा रहे थे,  
नगर-जगैया जगर-मगर जगमगा रहे थे ।

उत्तर अरिन्दम प्रथम खण्ड पर आकर ठहरा,  
तप्त स्वर्ण का वर्ण दृप्त-मुस पर था गहरा ।  
हाथ उठाये जहाँ उन्होंने, सन्नाटा था,  
सैन्य-तिन्धु में जहाँ ज्वार था, अब भाटा था !  
गूंगा सदा प्रकाश, फैलता है नि स्वन-सा,  
किन्तु वीर का उदय अरुण-सा था, स्वर धन-सा,  
“सुनो सैन्यजन, आज एक नव अवसर आया,  
मैंने असमय नहीं, अचानक तुम्हे जगाया ।  
जो आकस्मिक वही अधिक आकर्षक होता,  
यह साधारण बात, काटता है जो वोता ।



क्लीव-कापुरुष जाग जागकर भी है सोता ,  
 पर साके को शूर स्वप्न में भी कब खोता ?—  
 साका, साका, आज वही साका है शूरो ,  
 सिन्धु-पार उड़ रही यही स्वपताका शूरो !  
 सिन्धु, कहाँ अब सिन्धु ? हुआ है जल भी थल-सा ,  
 बंधा विपुल पुल, खुला आर्यकुल का अर्गल-सा !  
 यह सब किसने किया ? उन्ही प्रभु पुरुषोत्तम ने ,  
 पाया है युग-धर्म-रूप में जिनको हमने ।  
 होकर भी चिरसत्य-भूति है नित्य नये जो ,  
 भव्य भोग रख, दिव्य योग के लिए गये जो ।  
 हम जिनका पथ देख रहे हैं, कब वे आवें ?  
 कब हम निज घृति - धाम राम राजा को पावें ?  
 तो फिर आओ वीर, तनिक आगे बढ़ जावें ,  
 उनके पीछे जायें, उन्हें आगे कर लावें ।  
 चलना भर है हमें, मार्ग है बना बनाया ,  
 मकरालय भी जिसे बीच में रोक न पाया ।  
 किया उन्होंने स्वच्छ उसे, हम अटकेंगे क्यों ?  
 चरण-चिह्न हैं वने, भूलकर भटकेंगे क्यों ?

दुर्गम दक्षिण - मार्गें समझकर ही निज मन में ,  
 चित्रकूट से आर्य गये थे दण्डक वन में ।  
 शंकाएँ हैं जहाँ, वही धीरों की मति है ,  
 आशंकाएँ जहाँ, वही वीरों की गति है ।  
 लंका के क्रव्याद वहाँ आकर चरते थे ,  
 भोले भाले शान्त सद्य ऋषि-मुनि मरते थे ।  
 सफल न करते आर्य भला फिर वन जाना क्यों ?  
 पुण्यभूमि पर रहे पापियों का धाना क्यों ?  
 भरत खंड का द्वार विश्व के लिए खुला है ,  
 भुक्ति-मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है ।  
 पर जो इसपर अनाचार करने आवेंगे ,  
 नरकों में भी ठौर न पाकर पछतावेंगे ।  
 जाकर प्रभु ने वहाँ धर्म-संकट सब भेटा ,  
 जय-लक्ष्मी ने उन्हें आप ही आकर भेटा ।  
 क्षुष्ट दस्यु दल बाँध, रुष्ट होकर हाँ, आये ,  
 पर जीवित वे नहीं एक भी जाने पाये ।  
 झंझाड़ों-से उड़े शत्रु, पर पड़े अनल में ,  
 प्रभु के शर हैं ज्वाल-रूप ही समरस्थल में ।  
 सौ भोंके क्या एक अचल को धर सकते हैं ?  
 एक गरुड़ का सौ भुजंग क्या कर सकते हैं ?

— पहुँचा यह सवाद अन्त में उस रावण तक ,  
 जो निज गो-द्विज-देव-धर्म-कर्मों का कण्टक ।  
 उसी क्रूर को काढ, दूर करने भव - भय को ,  
 वन भेजा हो कहीं न माँ ने ज्येष्ठ तनय को ?  
 तपकर विधि से विभव निशाचरपति ने पाया ,  
 वही पाप कर आप राम से मरने आया ।  
 किन्तु सामना कर न सका पापी जब बल से ,  
 अबला हरने चला साधु - वेशी खल छल से ।

सुनने को हुड्कार सैनिको, यही तुम्हारी ,  
 जिसके आगे उड़े शत्रु को मति - गति सारी ,—  
 सहसा मैंने तुम्हें जगाया है, तुम जागे ,  
 नाच रही है विजय प्रथम ही अपने आगे ।  
 किन्तु विजय तो शरण, मरण में भी वीरों के ,  
 चिर - जीवन है कीर्ति - वरण में भी वीरों के ।  
 भूल जयाजय और भूलकर जीना - मरना ,  
 हमको निज कर्त्तव्य मात्र है पालन करना ।  
 जिस पामर ने पतिव्रता को हाथ लगाया ,—  
 उसको—जिसने अतुल विभव उसका ठुकराया ,

प्रभु हैं स्वयं समर्थ, पाप - कर काटें उसके ,  
 राम - वाण हैं सजग, प्राण जो चाटें घुसके ।  
 करता है प्रतिशोध किन्तु आह्वान हमारा ,  
 जगा रहा है जाग हमे अभिमान हमारा ।  
 खींच रहा है आज ज्ञान ही ध्यान हमारा ,  
 लिखे शत्रु - लंका - सुवर्ण आख्यान हमारा ।  
 हाय ! मरण से नहीं किन्तु जीवन से भीता ,  
 राक्षसियों से घिरी हमारी देवी सीता ।  
 वन्दोऽगृह मे बाट जोहती खड़ी हुई है ,  
 व्याध - जाल मे राजहसनी पड़ी हुई है ।  
 अवला का अपमान सभी बलवानो का है ,  
 सती - धर्म का मान भुकुट सब मानो का है ।  
 वीरो, जीवन - मरण यहाँ जाते आते है ,  
 उनका अवसर किन्तु कहाँ कितने पाते हैं ?  
 मारो, मारो, जहाँ बैरियों को तुम पाओ ,  
 मर मरकर भी उन्हें प्रेत होकर लग जाओ !  
 है अपनों को छोड़ मुक्ति भी अपनी कारा ,  
 पर अपनों के लिए नरक भी स्वर्ग हमारा !  
 पैर धरें इस पुण्यभूमि पर पामर पापी ,  
 कुल - लक्ष्मी का हरण करें वे सहज सुरापी ,

भर लो उनका रुधिर, करो अपनों का तर्पण ,  
 मास जटायु - समान जनो को कर दो अर्पण ।  
 यात्रा मे उत्साह - योग ही मुख्य शकुन है ,  
 फल की चिन्ता नहीं, धर्म को हमको धुन है ।  
 मर क्या, अमर अधीन हमारे कर्मों के हैं ?  
 साक्षी जो मन, बुद्धि और इन मर्मों के हैं ।  
 धन्य, वन्यजन भी न सह सके यह अपकर्षण ,  
 करते हैं वे क्रुद्ध क्रुद्धकर घन सघर्षण ।  
 चलो चलो नरवरो, न बानर ही यश ले लें ,  
 वे ले लें भुज बीस, सीस ही हम दश ले लें ।  
 साधु ! साधु ! यी मुझे यही आशा तुम सबसे—  
 'नामशेष रह जायें वाम बैरो बस अब से ।'  
 निश्चय—'हमको उन्हें मारना है या मरना ।'  
 जब मरने से नहीं, भला तब किससे डरना ?  
 पीछे - से हम उगे एक ब्यारी मे बोये ,  
 माली हमे उखाड़ ले चला तो हम रोये ।  
 किन्तु बन्धु, वह हमे जहाँ रोपेगा फिर से ,  
 होगा क्या उपयुक्त न वह इस भुक्त अजिर से ?  
 तदपि चुनौती आज हमारी स्वयमपि यम को ,  
 विधुत सजीवनो प्राप्त है अद्भुत हमको !

अपने ऊपर आप परीक्षा उसकी करके,—  
 आजनेय ले गये उसे यह अम्बर तरके।—  
 लका की खर-शक्ति आर्य लक्ष्मण ने भेली,  
 उनकी रक्षा उसी महोपधि ने सिर ले ली।  
 मारा प्रभु ने कुम्भकण-सा निर्मम नामी,  
 हुआ विभीषण स्वयं शरण मनु बुल अनुगामी।  
 अब क्या है वस, वीर, बाण से छूगे, छूटो,  
 सोने की उस शशु-पुरी लका को लूटो।”

“नही, नही”—सुन चौंक पडे शशुघ्न और सब,  
ऊपा - सी आगई ऊमिला उसी ठौर तब।  
वीणागुलि - सम सती उतरती - सी चढ घाई,  
तालपूति - सी सग सखी भी खिचती आई।  
आ शशुघ्न - समोप रुकी लक्ष्मण की रानी,  
प्रकट हुई ज्यो कार्तिकेय के निकट भवानी।  
 जटा - जाल - से वाल विलम्बित छूट पडे थे,  
 आनन पर सौ अरुण, घटा मे फूट पडे थे।  
 माथे का सिन्दूर सजग अगार - सदृश था,  
 प्रथमातप सा पुण्य गात्र यद्यपि वह कृश था।  
 वायाँ वर शशुघ्न - पृष्ठ पर कण्ठ - निकट था,  
 दायें कर मे स्थूल किरण-सा शूल विकट था।

गरज उठी वह—“नहीं, नहीं, पापी का सोना,  
 यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।  
 धीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,  
 जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।  
 सावधान ! वह अधम-धान्य-सा धन मत छूता,  
 तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना !  
 किस धन से हैं रिक्त कहो, सुनिकेत हमारे ?  
 उपवन फल-सम्पन्न, अन्नमय खेत हमारे।  
 जय पयस्य-परिपूर्ण सुधोषित धोष हमारे ;  
 अगणित आकर सदा स्वर्ण-मणि-कोष हमारे।  
 देव दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,  
 उसी भूमि की मुता पुण्य की प्रतिमा सीता।  
 मातृभूमि का मान ध्यान में रहे तुम्हारे,  
 लक्ष लक्ष भी एक लक्ष खखो तुम सारे।  
 हैं निज पार्थिव-सिद्धि-रूपिणी सीता रानी,  
 और दिव्य-फल-रूप राम राजा बल-दात्री।  
 करे न कौण्ठ-गन्ध कलकित मलय पवन को,  
 लगे न कोई कुटिल कीट अपने उपवन को।  
 विन्ध्य-हिमालय-भान, भला ! भुग जाय न धीरो,  
 चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो !

चढ़कर उतर न जाय, सुनो कुल-मौक्तिक मानी ,  
 गंगा-यमुना-सिन्धु और सरयू का पानी ।—  
 बटकर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थल से ,  
 किये दिग्विजय वार वार तुमने निज बल से ।  
 यदि, परन्तु कुल-कान तुम्हारी हो सक्ट मे ,  
 तो अपने ये प्राण व्यर्थ हो हैं इस घट मे ।  
 जिसका कुल है आर्य बना अपने कार्यों से ?  
 पढा न जिसने पाठ अवनितल मे आर्यों से ?  
 पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा ,  
 जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा ।  
 देखो, निकली पूर्व दिशा से अपनी ऊपा ,  
 यही हमारी प्रकृत पताका, भव की भूपा ।  
 ठहरो, यह मैं चलूं कीर्ति-सी आगे आगे ,  
 भोगें अपने विपम कर्म-फल अवम अभागे ।”

---

भाल - भाग्य पर तने हुए थे तेवर उसके ,  
 “भाभी ! भाभी” रद्ध कण्ठ थे देवर उसके ।  
 सम्मुख सैन्य समूह सिन्धु-सा गरज रहा था ,  
 वरज विनय से उसे, शत्रु पर तरज रहा था ।



“क्या हम सब मर गये हाय ! जो तुम जाती हो ,  
 या हमको तुम आज दीन - दुर्बल पाती हो ?  
 मारेंगे हम देवि, नहीं तो मर जावेंगे ,  
 अपनी लक्ष्मी लिये बिना क्या घर आवेंगे ?  
 होगा होगा वही, उचित है जो कुछ होना ,  
 इस मिट्टी पर सदा निछावर है वह सोना ।  
 तुम इस पुर की ज्योति, अहो ! यों धैर्य न खोओ ,  
 प्रभु के स्वागत-हेतु, गीत रच, थाल सँजोओ ।”

“वीरो, पर, यह योग भला क्यों खोजेंगे मैं ,  
 अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगे मैं ।  
 पानी दूँगे तुम्हे, न पल भर सोऊँगे मैं ,  
 गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगे मैं ।”

[ २ ]

“शान्त, शान्त !” गम्भीर नाद सुन पड़ा अचानक ,  
 गूँज उठा हो यथा अवनि पर अम्बर - आनक !  
 कुलपति वृद्ध वसिष्ठ आगये तप के निधि-से ,  
 हंस-वश-गुरु, हंसनिष्ठ, एकान्त विधि-से ।

सेना की जो प्रलयकारिणी घटा उठी थी ,  
 अब उसमे नत-नम्र-भाव की छटा उठी थी ।  
 सैन्य - सर्प , जो फगा उठाये फुङ्कारित थे ,  
 सुन मानो शिव-मन्त्र , विनत , विस्मित , वारित थे ।  
 “शान्त , शान्त ! सब सुनो कहाँ जाते हो , ठहरो ,  
 शौर्य-वीर्य के सघन घनानन , व्यर्थ न घहरो ।  
 लका विजितप्राय , तनिक तुम धीरज धारो ,  
 अच्छा , लो , सब इधर क्षितिज की ओर निहारो ।”  
 मन्त्र - यष्टि - सी जहाँ उन्होने भुजा उठाई ,  
 दूरदृष्टि - सी एक साथ ही सबने पाई ।  
 देखा , सम्मुख दृश्य आप ही खिच आया है ,  
 अन्धकार में उदित स्वप्न की - सी माया है ।  
 लहराता भरपूर सामने वरुणालय है ,  
 युग युग का अनुभूत विश्व का करुणालय है ।  
 उसमे लङ्का-द्वीप कनक-सरसिज शोभन है ,  
 लङ्का के सब ओर घोर-जङ्गम-जन-वन है ।  
 राम शिविर मे,—शरद्वनो मे नीलाचल-से ,  
 भीग रहे हैं उत्स - रूप आँखो के जल - से ।  
धातुराग - से पड़े अक मे लक्ष्मण उनके ,  
 बीत रहे हैं हाय ! कल्प जैसे क्षण उनके ।

जाम्बवन्त, नल, नील, अगदादिक सेनानी,  
 रामानुज को देख आज सब पानो पानो ।  
 सहलाते सुग्रीव - विभीषण युग पद - तल है,  
 वैद्य हाथ में हाथ लिये नीरव निश्चल हैं ।  
 जड़ोभूत - से हुए देख साकेत - निवासी,  
 बोल सके कुछ भी न,—हुए यद्यपि अभिलाषी ।  
तदपि ऊर्मिला ने प्रयास कर हाथ उठाया,—  
 देखा अपना हृदय, मन्द - सा स्पन्दन पाया !  
 बोल उठे प्रभु चौक भरत ने भी सुन पाया—  
 “भाई, भाई ! उठो, सबेरा होने आया ।  
 मारूँ रावण - सहित इन्द्रजित को मैं, जाओ,—  
 तुम इस पुर का राज्य विभीषण को दे आओ ।  
 चलो, समय पर मिलें अयोध्या जाकर सबसे,  
बधू ऊर्मिला मार्ग देखती है घर कब से ?  
 आये थे तुम साथ हमें सुख ही देने को,  
 लाये हम भी तुम्हें न थे अपयश लेने को ।  
 तुम न जगे तो सुनो, राम भी सो जावेगा,  
 सीता का उद्धार असम्भव हो जावेगा ।  
 वीर, कहो फिर कहाँ रहेगी बात तुम्हारी ?  
 क्षत्रियत्व कर रहा प्रतीक्षा तात, तुम्हारे !

अथवा जब तक रात, और सोओ तुम भ्रात ,  
 देखेंगे अरि - मित्र पद्म - सा तुमको प्रातः ।  
 राम-वाण उड छेद सुधाकर में कर देगा ,  
 अमृत तुम्हारे लिए मुमधु-सा टपका लेगा !  
 हनुमान को वाट देख लूँ क्षण भर भाई !”  
 “समुपस्थित यह दास” पास ही पडा सुनाई ।  
 बुरे स्वप्न में वीर आगया उद्बोधन-सा ,  
 ओपधि लेकर किया वैद्य ने व्रण-शोधन-सा ।  
 संजोवनी-प्रभाव घाव पर सवने देखा,—  
 शत्रु-लोहलिपि हुई अहा ! पानी की लेखा ।  
 फँस गया आलोक, दूर होगया अंधेरा ,  
 रवि ने अपना पद्म प्रफुल्लित होता हेरा !”  
 चमक उठा हिम-सलिल रात भर बहते बहते ,  
 जाग उठे सौमित्रि-सिंह यह कहते बहते—  
 “धन्य इन्द्रजित ! किन्तु सँभल, वारी अब मेरी !”  
 चौक उन्होंने दृष्टि भ्रान्त भीरी - सी फेरी ।  
 उन्हें हृदय से लगा लिया प्रभु ने भुज भरके ,  
 अर्द्धि - अर्द्ध में उठे कलाधर यथा उभरके !  
 “भाई, मेरे लिए लौट फिर भी तू आया ,  
 जन्म जन्म का इसी जन्म मे मैंने पाया !”

मैं तो उठ भी सका शत्रु की शक्ति ठेलकर,  
 किन्तु उठेगा शत्रु न मेरा शेल भेलकर।—  
 वानरेन्द्र, ऋक्षेन्द्र, करो प्रस्तुत सब सेना,  
 रिपु का घरा - ऋण भुझे अभी चुकता कर देना।  
 जय जय राघव राम।” कहा लक्ष्मण ने ज्यो ही,  
 गरज उठा सब कटक विकट रव करके त्यो ही।  
 वह लका की ओर चला चारो द्वारो से,  
 उमड़ा प्रलय - पयोधि घुमड सौ सौ ज्वारो से।

चौड़े चौड़े चार वक्ष - से लका गढ के,  
 लोड़े द्वार - कपाट कटक ने बढके, चढके।  
 प्रथम वेग से बचे शत्रु जो सजग खडे थे,  
 लरके अब हुझार प्रेत - से दूट पडे थे।  
 शल-वादल भिड गये, घरा घँस चली धमक से,  
 मडक उठा क्षय कडक तडक से, चमक दमक से।  
 एण - भेरी की गमक, सुभट नट - से फिरते थे।  
 गल ताल पर रुण्ड - मुण्ड उठते - गिरते थे।  
 छेत्र - भिन्न थे वक्ष, कण्ठ, मस्तक, कर, कन्धे,  
 ए क्रोध से उभय पक्ष थे मानो अन्धे।

“प्रस्तुत है यह दास आर्य - चरणों का चेरा ,  
किन्तु कहाँ वह मेघनाद प्रतिपक्षी मेरा ?”

“लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! हाय ! न च चल हो पल पल मे ,  
क्षण भर तुम विश्राम करो इस अकस्यल मे ।”

“हाय नाथ ! विश्राम ? शत्रु अब भी है जीता ,  
कारागृह में पड़ी हमारी देवी सीता !  
जब तक रहा अचेत अवश था आप पड़ा मैं ,  
अब सचेत हूँ और स्वस्थ - सन्नद्ध खड़ा मैं ।

बीत गई यदि अबधि भरत की क्या गति होगी ?

घरे तुम्हारा ध्यान एक युग से जो योगी ।

माताएँ निज अङ्ग - दृष्टि भरने को बैठी ,

पुर - कन्याएँ कुसुम - वृष्टि करने को बैठी ।

आर्य अयोध्या जायें, युद्ध करने में जाऊँ ,

पहले पहुँचे आप और मैं पोछे आऊँ ।

यदि वैरी को मार न कुल - लक्ष्मी को लाऊँ ,

तो मेरा यह घाप मुझे—मैं सुगति न पाऊँ !”

“ऐसे पाकर तात ! तुम्हें कैसे छोड़ूँ मैं ?”

“किन्तु आर्य, क्या आज शत्रु से मुझे मोड़ूँ मैं ?

व्यर्थ जिया मैं, हुआ आर्य को मोह यही तो ,

दूना बदला आप चुकाते आज नहीं तो !

मैं तो उठ भी सका शत्रु की शक्ति ठेलकर,  
किन्तु उठेगा शत्रु न मेरा शेल भेलकर।—  
वानरेन्द्र, ऋक्षेन्द्र, करो प्रस्तुत सब सेना,  
रिपु का व्रण - ऋण मुझे अभी चुकता कर देना !  
जय जय राघव राम !” कहा लक्ष्मण ने ज्यों ही,  
गरज उठा सब कटक विकट रव करके त्यों ही ।  
वह लका की ओर चला चारो द्वारो से,  
उमड़ा प्रलय - पयोधि घुमड सौ सौ ज्वारो से ।

चौड़े चौड़े चार वक्ष - से लका गढ के,  
तोड़े द्वार - कपाट कटक ने बढके, चढके ।  
प्रथम वेग से वचे शत्रु जो सजग खडे थे,  
करके अब हुच्कार प्रेत - से दूट पडे थे ।  
दल-बादल भिड गये, घरा घँस चली धमक से,  
भडक उठा क्षय कडक तडक से, चमक दमक से ।  
रण - भेरी की गमक, सुभट नट - से फिरते थे !  
ताल ताल पर रुण्ड - मुण्ड उठते - गिरते थे !  
छिन्न - भिन्न थे वक्ष, कण्ठ, मस्तक, कर, कन्धे,  
हुए क्रोध से उभय पक्ष थे मानो अन्धे ।

मिला रक्त से रक्त, वर-सम्बन्ध फला यों,  
 वीर-वरों के पैर वहाँ धुलते न भला क्यों !  
 अग्र पक्ति का पतन जिधर होता जैसे ही,  
 बड़ पोछे को पंक्ति पूर्ति करतो वैसे ही ।  
 दो धाराएं उमड़ उमड़ सम्मुख टकरातीं,  
 उठतीं होकर एक और गिरतीं, चकरातीं ।  
 मची खलवती गली गली में लंकापुर की,  
 आँखों में आ भाँक उठी आतुरता उर की ।  
 आया रावण जिधर दिव्य-रथ में राघव थे,  
 क्या ही गौरव भरे आज प्रभु-कर-लाघव थे ।  
 गरजा राक्षस—“ठहर, ठहर तापस, मैं आया,  
 जोकर तेरा शोक-मात्र लक्ष्मण ने पाया !  
 पंचानन के गुहा-द्वार पर रक्षा किसकी ?  
 मैं तो हूँ विख्यात दशानन, सुध कर इसकी !”  
 हँस बोले प्रभु—“तभी द्विगुण पशुता है तुझमें,  
 तूने ही आखेट-रंग उपजाया मुझमें !”  
 दशमुख को संग्राम, 'राम को थो वह क्रीडा,  
 स्थितप्रज्ञ को दशों इन्द्रियों की क्या पोड़ा ?  
 “धन्य पुण्यजन, धन्य शूरता तुझ-से जन की,  
 वीर, दूर कर कुटिल क्रूरता अब भी मन की ।



बल विकास के लिए, नाश के लिए नहीं है  
 किन्तु रहे वह शक्ति न,—जिससे ह्रास कहीं है ।  
 “भय लगता है मनुज, तुझे तो क्यों आया था !  
 “घरे निशाचर, मुझे काल तेरा लाया था  
 चिर परिचित तू जान त्राण-करुणा से मुझको  
 भय से परिचित करा सके तो जानूँ तुझको !  
 रिपु के सौ सौ शस्त्र वेगपूर्वक आते थे,  
 कट जाते थे किन्तु, उन्हें कब छू पाते थे ।  
 धिरा घोर घन, तड़ितेज चौका देता था,  
 किन्तु पवन भट उसे एक झोका देता था !

पूर्व अयन पर कौन रोकता रामानुज को ?  
 हुए सुभुज वे सिद्ध - योग - से राक्षस - युग को ।  
 निकुम्भला मे मेघनाद साधन करता था,  
 विजय-हेतु निज इष्ट-समाराधन करता था ।  
 नल-वन-सम दल शशु जनों को, वे भुज-बल से ;  
 पुर में हुए प्रविष्ट, जलधि में बहवानल-से ।  
 अंगदादि भट संग गये अपने को चुनके,  
 उड़ते-से अगर हुए वे उत्कट उनके ।

हलचल - सी मच गई, कोट २-१,

या ?—

अरि - दल पीछे जा न सका, ३-११

१।

रावण ने चाहा कि लौट २-२,

गरजे प्रभु—“धिक भीरु ! पी २-२१”

इसे समझ रख, आज भाग : २-३

गरजा रावण—“अटक, कहाँ २-४”

भय क्या, पक्षी आज स्वयं ! २-५

तू भी उसकी दशा देखियो, २-६

उधर हाँक सुन हनुमान को २-७

“मैं वह हूँ जो जला गया था २-८

मेघनाद ही हमें चाहिए आज २-९

पहुँचे सब निज यज्ञ-लक्ष्म था म २-१०

भीषण भी भट-मूर्ति अहा ! क्या भ २-११

रक्त-मांस की नहीं, धातु की डली २-१२

वेदी भट्टी घनी,—छोड़ती थी ज २-१३

पहनाती थी उसे आप वह मो २-१४

पशु-बलि देकर बली शस्त्र-पूजन २-१५

अस्फुट मन्त्रोच्चार कलित - कूजन २-१६

ठिठक गये सब एक साथ पल भर २-१७

बोले तब सोमिनि भड़ककर दा २-१८

“अरे इन्द्रजित, देख, द्वार पर शत्रु खड़ा है,  
करता उससे विमुख कौन तू कर्म बड़ा है ?  
जिसके सिर पर शत्रु, धर्म उसका—वह जूमे,  
किन्तु पतित तू आयं-मर्म क्या समझे वूमे !”  
चौंक हतप्रभ हुआ शत्रु—“कैसे तू आया ?  
घर का भेदी कौन—यहाँ जो तुझको लाया ?”  
“अरे, काल के लिए कौन पथ खुला नहीं है ?  
आता अपने आप अन्त तो सभी कही है।  
मैं हूँ तेरा अतिथि युद्ध का भूखा, ला तू,  
कर ले कुछ तो धर्म,—‘अतिथि-देवो भव’—आ तू।”  
“लक्ष्मण, तुझ-सा अतिथि देख मैं कब डरता हूँ !  
पर कह, क्या यह धर्म नहीं जो मैं करता हूँ ?”  
“कौन धर्म यह—शत्रु खड़े हुड्कार रहे हैं—  
तेरे आयुध यहाँ दीन पशु मार रहे हैं।”  
“करता हूँ मैं वैरि-विजय का ही यह साधन।”  
“तब है तेरा कपट मान यह देवाराधन !  
ठहर, ठहर, बस, बृथा बचना न कर अनल की,  
कर केवल कर्तव्य, छोड़ दे चिन्ता फल की।”  
“लक्ष्मण, मेरी शक्ति अभी क्या भूल गया तू ?  
मरते मरते बचा, इसीसे फूल गया तू ?”

“देखी तेरी शक्ति, उसीपर तू इतराया ?—  
 जिसको मेरी एक जड़ी ने ही छितराया ।  
 है क्या कोई युक्ति यहाँ भी, बतला मुझको,  
 जो तेरा सिर जोड़ जिला दे फिर भी तुझको ?  
 । यह तो हुआ विनोद किन्तु सचमुच मैं भाई,  
 देने आया तुझे उसीके लिए बधाई ।  
 'बंठा है क्यों छिपा, अनोखे आयुधधारी ?  
 उठ, प्रस्तुत हो देख तनिक अब मेरी वारी ।”  
 “पूरा बरूंगा यज्ञ आज तेरी बलि देकर—”  
 खड़ा हो गया शूर सर्प - सा आयुध लेकर ।  
 हुआ वहाँ सम - समर अनोखा साज सजाकर,  
 देते थे पद - ताल उभय कर लौह बजाकर ।  
 शब्द शब्द से शस्त्र शस्त्र से, घाव घाव से,  
 स्पर्द्धा करने लगे परस्पर एक भाव से ।  
 होकर मानो एक प्राण दोनों भट - भूषण,  
 दो देहो को मान रहे थे निज निज दूषण ।  
 प्राणों का पण लगा लगाकर दोनों लक्ष्मी,  
 उड़ा उड़ाकर लड़ा रहे थे निज निज पक्षी ।  
 कौतुक - सा था मचा एक मरने - जीने का,  
 सगर मानो रंग हुआ था रस पीने का ।

क्रम से बढ़ने लगी युगल वीरों को लालो,  
तालो देकर नाच रहे थे रुद्र कपालो।  
व्रण - माला थी वनो जपा फूलों की डालो,  
रण - चण्डो पर चढ़ी बढ़ी काली मतवाली।

हुए सशंकित देव—कौन जय - वर पावेगा ?  
घर्म न क्या निज हानि आज भी भर पावेगा।  
हँसकर विधि को हेर कहा हरि ने—“क्या मन है ?  
देव जन्तों का यही श्रेष्ठ पौरुष - साधन है !”  
इधर गरजकर मेघनाद बोला सक्षमण से—  
“तूने निज नर - नाट्य किया प्राणों के पण से।  
इस पौरुष के पड़े श्रमर - पुर में भी लाले,  
किन्तु मर्त्य, तू पड़ा आज राक्षस के पाले !”  
“मेघनाद, है विफल, उगलता है जो विष तू,  
मत कर अपनी आप बड़ाई मेरे मिष तू।  
जीवन क्या है, एक जूझना मात्र जनों का,  
और मरण ? वह नया जन्म है पुरातनों का !  
किन्तु बिगाड़ा जन्म जनक तेरे ने जैसा,  
तुम्हको पैतृक रोग भोगना होगा वैसा।

जन्मान्तर के लिए जान रख, जो पातक है,  
 वह अपना ही नहीं, वश का भी घातक है।  
 यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,  
 यदि मैंने निज वधू ऊर्मिला को हो जाना,  
 तो, वस, अब तू सँभल, वाण यह मेरा छूटा,  
 रावण का वह पाप - पूर्ण हाटक - घट फूटा !”  
 हुआ सूर्य - सा अस्त इन्द्रजित लकापुर का,  
 शून्य भाव था गगन - रूप रावण के उर का।  
 इधर ऊर्मिला वधू - वदन - लज्जा की लाली—  
 फूली सन्ध्या प्राप्त कर रही थी दीपाली !

जगकर मानो एक बार, जय जय जय कहकर,  
 पुन. स्वप्न - सा देख उठे सब नीरव रहकर।  
 अब थी प्रकट अशोक - वाटिका में वैदेही,  
 करुणा की प्रत्यक्ष अधिष्ठात्री क्या ये ही।  
 स्वयं वाटिका बनी विकट थी झाड़ी उनकी,  
 राक्षसियाँ थी घनी - कटोली बाड़ी उनकी।  
 उन दोनों के बीच घिरी थी देवी सीता,  
 राजस - तामस - मध्य सात्विकी वृत्ति पुनीता।

एक विभीषण-वधू उन्हें धीरज देती थी,  
 या प्रणिमा-सी पूज आप वह वर लेती थी।  
 “अब प्रभु के ही निकट देवि, अपने को जानो,  
 मेघनाद क्या मरा, मरा रावण ही मानो।  
 सारी लका आज रो रही है सिर धुनकर,  
 रावण मूर्च्छित हुआ शुभे, रथ मे ही सुनकर।  
 प्रभु बोले—‘उठ, जाग, वाण प्रस्तुत है मेरा,  
 मैं सह भक्ता नहीं दुख रावण, अब तेरा।’  
 मेरे स्वामी घन्य, हुए उनके पद-सेवी,  
 अरि का भी यो दुख जिन्हे दुस्सह है देवी।  
 रहता कही सचेत समर मे रावण, क्षण भर,  
 उसे आज ही शोक-मुक्त करते उनके शर।”  
 तब सीता ने कहा पोछ आँखों का पानी—  
 “सरमे, क्या है तुम्हें ? जियो लका की रानी।”  
 “वसुधा का राजत्व निछावर तुम पर साध्वी,  
 रखे मुक्तो मत्त इन्ही चरणों की माध्वी।  
 तुम सोने की सती भूति, शम दम की दीक्षा,  
 दी है अपनी यहाँ जिन्होंने अग्नि-परीक्षा।”

भरकर श्वासोच्छ्वास अयोध्या-वासो जागे ,  
 दोख पडे गुरुदेव सभीको अपने आगे ।  
 बोले मुनि—“सब लोग सजाओ अपने मन्दिर ,  
 अपनी उस चिर-अजिर-मूर्ति को पाओ फिर फिर ।”  
 गूँजा जय जय नाद, गवं छाया जन जन मे ,  
 वह उमडा उत्साह लगा स्वागत-साधन मे ।  
 सैन्यजनो ने फँट अनिच्छा पूर्वक खोली ,  
 “निकली नही उमग ?” वीर-बधुएँ हँस बोली—  
 “वानर यश ले गये ।” “प्रिये, देखा है सब तो ,  
 अश्वमेध की बाट जोहनी होगी अब तो !”

मञ्जन पूर्वक सुधा नीर से पुरी नहाई ,  
 उसपर उसने वर्ण वर्ण की भूपा पाई ।  
 लिख बहु स्वागत-वाक्य सुपरिचय दे रति-मति का ,  
 वासकसज्जा बनी देखती थी पथ पति का !

आया, आया, किसी भाँति वह दिन भी आया ,  
 जिसमे भव ने विभव, गेह ने गौरव पाया ।  
 आये पूर्व-प्रसाद-रूप-से मारुत पुर मे ,  
 प्रकटे फिर, जो छिपे हुए थे सबके उर मे ।



अपनो के हो नही, परो के प्रति भी धार्मिक ,  
 कृती प्रवृत्ति निवृत्ति-मार्ग मर्यादा-भार्मिक ,  
 राजा होकर गृही, गृही होकर सन्यासी ,  
 प्रकट हुए आदर्श-रूप घट घट के वासी ।  
 पाया, हाँ, आकाश-कुसुम भी हमने पाया ,  
 फैलाता निज गन्ध गगन में पुष्पक आया ।  
 अगणित नैन-मिलिन्द उड़े, प्रभु गुण-रव छाया ,  
 मानुष - मानस लाख तरंगों से लहराया ।

भुक्ति विभीषण और मुक्ति रावण को लेकर ,  
 विजय सखी के संग शुद्ध सीता को लेकर—  
 दाक्षिणात्य-लकेश अतिथि लाकर मन भाये ,  
 आतिथेय ही बने लक्ष्मणाग्रज घर आये ।  
 भरत और शत्रुघ्न नगर तोरण के आगे ,  
 मानो थे प्रतिविम्ब प्रथम ही उनके जागे ।  
 कहा विभीषण ने सुकण्ठ से सुघ-सी खोकर—  
 'प्रकटित सानुज राम आज दुगुने-से होकर !'  
 वर विमान से कूद, गरुड से ज्यो पुरुषोत्तम ,  
 मेले भरत से राम क्षितिज में सिन्धु-गगन सम ।

"उठ, भाई, तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है,  
 तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है।  
 'गये चतुर्दश वर्ष, थका मैं नहीं भ्रमण मे,  
 विचरा गिरि वन-सिन्धु पार लका के रण मे।  
 श्रान्त आज एकान्त रूप-सा पाकर तुझको,  
 उठ, भाई, उठ, भेंट, अक मे भर ले मुझको।  
 मैं वन जाकर हंसा, किन्तु घर आकर रोया,  
 खोकर रोये सभी, भरत, मैं पाकर रोया।"  
 "आर्य, यही अभिप्रेक तुम्हारे भृत्य भरत का,  
 अन्तर्वाह्य अशेष आज कृतकृत्य भरत का।"  
 पूरी भी थी युगल मूर्तियाँ अब तक ऊनी,  
 मिल होकर भी एक, हर्षमय थी अब दूनी।  
 हिल हिलकर मिल गईं परस्पर लिपट जटाएँ,  
 मुख - चन्द्रो पर झूम रही थी घूम घटाएँ।

साधु भरत के अथु गिरें चरणो मे जब लो,  
 नयनो मे ही भरे सती सीता ने तब लों।  
 लता - मूल का सिंचा सलिल फूलो मे फूटा,  
 फैला वह रस - गन्ध सबंदा सबने लूटा।

देवर - भाभी मिले, मिले सब भाई भाई,  
वरसे भू पर फूल, जयध्वनि ऊपर छाई।  
भरत मिले सुग्रीव - विभीषण से यह कहकर—  
'सफल बन्धु - सम्बन्ध हमारा तुममे रहकर।'

पैदल ही प्रभु चले भीड़ के सग पुरी में,  
सर्घपित थे आज अग से अग पुरी में।  
अहा ! समाई नहीं अयोध्या फूली फूली,  
तब तो उसमें भीड़ अमाई ऊली ऊली।  
पुरकन्याएँ खिल - फूल - धन बरसाती थी,  
कुल - ललनाएँ धरे भरे शुभ घट, गाती थी—  
"आज हमारे राम हमारे घर फिर आये,  
चारो फल है इसी लोक में हमने पाये।"  
द्वार द्वार पर झूल रही थी शुभ मालाएँ,  
झलती थी ध्वज व्यजन शील शीला शालाएँ।  
राज - मार्ग में पड़े पाँवड़े फूल भरे थे,  
क्षत्र लिये थे भरत, चौंर शत्रुघ्न धरे थे।  
माताओं के भाग आज सोते से जागे,  
पहुँचे पहुँचे राम राज - तोरण के आगे।

न कुछ कह सकी, न वे देख ही सकी सुतो को,  
 रोकर लिपटी उठा उठा उन प्रणति - युतो को।  
कांप रही थी हर्ष - भार से तीनो धर धर,  
लुटा रही थी रत्न आज वे तीनो भर भर।  
 लिये आरती वे उतारती थी तीनो पर,  
 क्या था, जिसे न आज वारती थी तीनो पर।  
 दिन था मानो यही वधू - वर के लेने का,  
 जो जिसको हो दृष्ट, वही उसको देने का।  
 "वहू, वहू, वैदेहि, बड़े दुख पाये तूने।  
 "माँ, मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने  
 "आया फिर तू राम, कोख मे मानो मेरी  
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु - शैया तेरी  
 "जन्म जन्म मे यही कोख जननी, मैं पाऊँ  
 "माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद मे पलता आऊँ  
 सुप्रभ प्रभु ने कहा सुमित्रा से नत होकर  
 "पाया मैंने अम्ब, पुन लक्ष्मण को खोकर  
 रख न सका मैं हाथ। दिया /      ॐ तुमने

लिया अन्य का भार भरत ने, मैं अब हलकी,  
तुमको पाया, रही कामना फिर किस फल की ?”

समझो प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की,  
“मूल शक्ति माँ, तुम्ही सुयश के इस उपवन की।  
फल, सिर पर ले धूल, दिये तुमने जो मीठे,  
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे।”

“भागी हो तुम वत्स राम रघुवर, भव भर के,  
कंकेयी के दोष लिये तुमने गुण करके,  
ढोया जीवन-भार, दुःख ही ढाया मैंने,  
पाकर तुम्हे परन्तु भरत को पाया मैंने !”

मिल वहनो से हुई चौगुनी सचमुच सीता,

‘गाई प्रभु ने बधू ऊर्मिला की गुण-गीता—

“तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर

। धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर !”

मानो मञ्जित हुई पुरी जय जय के रव मे,  
पुरजन, परिजन लगे इधर अभिषेकोत्सव मे।

न कुछ कह सकी, न वे देख ही सकी सुतो को,  
 रोकर लिपटी उठा उठा उन प्रणति - युतो को।  
काँप रही थी हृषं - भार से तीनो थर थर,  
लुटा रही थी रत्न आज वे तीनो भर भर।  
 लिये आरती वे उतारती थी तीनो पर,  
 क्या था, जिसे न आज वारती थी तीनो पर।  
 दिन था मानो यही वधू - वर के लेने का,  
जो जिसको हो इष्ट, वही उसको देने का।  
 "बहू, बहू, वैदेहि, बड़े दुख पाये तूने।"  
 "माँ, मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने।"  
 "आया फिर तू राम, कोख में मानो मेरी,  
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु - शैया तेरी।"  
 "जन्म जन्म में यही कोख जननो, मैं पाऊँ।"  
 "माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद में पलता आऊँ।"  
 सुप्रभ प्रभु ने कहा सुमित्रा से नत होकर—  
 "पाया मैंने अम्ब, पुन. लक्ष्मण को खोकर।  
 रख न सका मैं हाथ। दिया मुझको जो तुमने,  
 धन्य तुम्हारा पुण्य, प्राण पाये इस द्रुम ने।"  
 "किन्तु तुम्हें ही सौंप चुकी हूँ राम इसे मैं,  
 तू फिर कैसे उसे, दे चुकी आप जिसे मैं?

लिया अन्य का भार भरत ने, मैं अब हलकी,  
तुमको पाया, रही कामना फिर किस फल की ?”

समझी प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की,  
“मूल शक्ति माँ, तुम्ही सुयश के इस उपवन की।  
फल, सिर पर ले धूल, दिये तुमने जो मोठे,  
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे।”

“भागी हो तुम वत्स राम रघुवर, भव भर के,  
कैंकेयी के दोष लिये तुमने गुण करके,  
ढोया जीवन-भार, दुःख ही ढाया मैंने,  
पाकर तुम्हें परन्तु भरत को पाया मैंने !”

मिल बहनो से हुई चौगुनी सचमुच सीता,

गई प्रभु ने बधू ऊर्मिला को गुण-गीता—

“तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर  
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर !”

मानो मज्जित हुई पुरी जय जय के रव मे,  
पुरजन, परिजन लगे इधर अभिषेकोत्सव में।

पाई प्रभु से इधर नई छवि राज - भवन ने,  
सागर का माधुर्य पी लिया मानो घन ने !

पाकर अहा ! उमग ऊर्मिला - अंग भरे थे,  
आली ने हँस कहा—“कहाँ ये रग भरे थे ?  
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सच्ची माया !  
किन्तु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया !  
फडक रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है :  
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें शंशय या भय है ?  
आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ >  
वरसों की मैं कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ >  
“हाय ! सखी, शृङ्गार ? मुझे अब भी सोहेंगे >  
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेगे >  
मैंने जो वह ‘दग्ध - वर्तिका’ चित्र लिखा है >  
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है >  
नहीं, नहीं, प्राणेश मुझीसे छले न जा >  
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पा >  
शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती >  
अनी उदा जो लेखि उदा पा नी जेजी >



“किन्तु देख यह वेश दुखो होंगे वे किनने?”

“तो, ला भूषण - वसन, इष्ट हों तुम्हको जितने ।  
पर यौवन - उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?  
वह खोया घन आज कहाँ सति, पाऊँगी मैं ?”

“अपराधो - सा आज वही तो आने को है ,  
वरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है ।  
कल रोती थी आज मान करने बैठो हो ,  
कौन राग यह, जिसे गान करने बैठो हो ?  
रवि को पाकर पुनः पद्मिनी खिल जाती है ,  
पर वह हिमकण बिना कहाँ शोभा पातों है ?”

“तो क्या आँसू नहीं सखो, अब इन आँखों में ?  
फूटें, पानी न हो बड़ी भी जिन आँखों में ?”

“प्रोति-स्वाति का पिया शुक्ति वन वनकर पानी ,  
राजहंसनी, चुनो रीति - मुक्ता अब रानी !”

“विरह रुदन में गया; मिलन में भी मैं रोऊँ ,  
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद - रज धोऊँ ।  
जब थी तब थी आलि, ऊर्मिला उनकी रानी ,  
वह वरसों की बात आज होगई पुरानी !

अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी ,  
मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी ।

युवती हो या आलि, ऊर्मिला बाला तन से,  
 नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से !  
 देखूँ, कह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को ?  
 या सज-वजकर आप दिखाऊँ मैं अपने को ?  
 सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको,  
 लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है तुझको ।  
 उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली,  
निरख तनिक तू आज ढीठ सन्ध्या की लाली !  
 मान कहूँगी आज ? मान के दिन तो बीते,  
 फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते ।  
 टपक रही वह कुञ्ज-शिला वाली शेफाली,  
 जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली !  
 वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह !"  
 "किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह !"  
देखा प्रिय को चौक प्रिया ने, सखी किधर थी ?  
पैरों पड़ती हुई ऊर्मिला हाथों पर थी !

लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,  
 समा रहे थे ए - ने ने वे न - में ।

रोक रही थी उधर मुखर मैना को बेरो—  
'यह हत हरिणी छोड़ गये क्यों नये अहेरी।'

"नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया?"

"प्रिये, प्रिये, हाँ आज-आज ही-वह दिन आया।

मेघनाद की शक्ति सहन करके यह छाती,

अब भी क्या इन पाद-मल्लवों से न जुड़ाती?

मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया खोया,

जिस दिन आर्या विना आर्य का मन था खोया-

पूर्ण रूप से सुनो, तुम्हें मैंने कब पाया,

जब आर्या का हनुमान ने विरह सुनाया!

अब तक मानो जिसे वेपभूषा मे ढाला,

अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला।

आँखों में हो रही अभी तक तुम थी मानो,

अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानो।

परिधि-विहीन सुधांशु-सदृश सन्ताप - विमोचन,

धूल रहित, हिम-धीत सुमन-सा लोचन - रोचन,

अपनी द्युति से आप उदित, आडम्बर त्यागे,

घन्य अनावृत - प्रकृत - रूप यह मेरे आगे।

जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,

कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।"

“स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी  
 किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे सांझ - सवेरे !  
 खोई अपनी हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ?  
 प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला ?”  
काँप रही थी देह - लता उसकी रह रहकर ,  
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर वह बहकर ।  
 “वह वर्षा को वाढ़, गई, उसको जाने दो ,  
 शुचि-गभीरता प्रिये, शरद को यह आने दो ।  
 घरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो ,  
 लाता है जो समय प्रेम-पूर्वक, लाने दो ।

तुम सुनो, सदैव समीप है—  
 जो अपना आराध्य है ।  
 आओ, हम साथें शक्ति भर ,  
 जो जीवन का साध्य है ।

अलक्ष की बात अलक्ष जानें.,  
 समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?  
 रहे वही प्लावित प्रीति-धारण,  
 आदर्श ही ईश्वर है हमारा ।”

स्वच्छतर अम्बर मे छनकर आ रहा था  
 स्वादु-मधु-गन्ध से सुवासित समीर-सोम ,  
 त्यागी प्रेम-याग के व्रती वे कृती जायापती  
 पान करते थे गल बांह दिये, आपा होम ।  
 क्षुद्र कास-कुश से लगाकर समुद्र तक ,  
 मेदिनी मे किसका था मुदित न रोम रोम ?  
 समुदित चन्द्र किरणों का चौंर डारता था ,  
 भारती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम !

श्रीरामचरणार्पणमस्तु  
 दीपावली  
 सवत् १९८६ विक्रमो  
 चिरगांव